नागरिकता एवं शासन

(CITIZENSHIP AND GOVERNANCE)

बी.ए. (प्रोग्राम) राजनीति विज्ञान

सेमेस्टर –VII

DISCIPLINE SPECIFIC ELECTIVE (DSE)

कोर्स क्रेडिट -4

As per the UGCF - 2022 and National Education Policy 2020

READING NOTES

विषय-सूची

क्र. सं.	शीर्षक	पृष्ठ सं.
इकाई-1	नागरिकता	1-22
इकाई-2	शासन	23-43
इकाई-3	उत्तरदायित्व : भारत में नागरिकता एवं शासन	44-72
इकाई-4	नागरिक और शासन के मध्य संबंध	73-96

Printed at: Vikas Publishing House Pvt. Ltd. Plot 20/4, Site-IV, Industrial Area Sahibabad, Ghaziabad - 201 010 (1500 Copies) October 2026

नागरिकता

संरचना

1.1 अधिगम उद्देश्य

1.2 प्रस्तावना

1.3 नागरिकता : अर्थ, प्रकृति एवं विकास

1.4 नागरिकता के प्रमुख सिद्धांत

1.5 जुस सोली (Jus Soli): अवधारणा एवं विशेषताएँ

1.6 जुस सैंग्विनिस (Jus Sanguinis): अवधारणा एवं विशेषताएँ

1.7 जुस सोली एवं जुस सैंग्विनिस : तुलनात्मक विश्लेषण

1.8 भारतीय संविधान में नागरिकता

1.9 भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955

1.10 नागरिकता अधिनियम में प्रमुख संशोधन

1.11 नागरिकता प्राप्ति एवं समाप्ति की प्रक्रिया

1.12 नागरिकता, अधिकार एवं कर्तव्य

1.13 समकालीन संदर्भ : नागरिकता, प्रवासन और पहचान की राजनीति

1.14 आलोचनात्मक विमर्श एवं चुनौतियाँ

1.15 तुलनात्मक सारणी

1.16 अभ्यास प्रश्न

1.17 संदर्भ-सूची

1.1 अधिगम उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी–

1. नागरिकता के अर्थ, स्वरूप और ऐतिहासिक विकास की व्याख्या कर पाएँगे।
2. नागरिक अधिकारों, कर्तव्यों और राजनीतिक सहभागिता के संबंध को समझ पाएँगे।
3. टी. एच. मार्शल के नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के वर्गीकरण का विश्लेषण कर पाएँगे।
4. उदारवादी, गणतांत्रिक, समुदायवादी, मार्क्सवादी और नारीवादी नागरिकता-दृष्टियों में अंतर कर पाएँगे।
5. समकालीन लोकतंत्र में समावेशी और सक्रिय नागरिकता की प्रासंगिकता का मूल्यांकन कर पाएँगे।

1.2 प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में नागरिकता की अवधारणा अत्यंत केंद्रीय महत्त्व रखती है। नागरिकता केवल किसी राज्य (State) की सदस्यता का कानूनी प्रमाण नहीं है, बल्कि यह व्यक्ति और राज्य (State) के मध्य स्थापित राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक संबंध का आधार भी है। नागरिकता के माध्यम से व्यक्ति को अधिकार, सुरक्षा, राजनीतिक सहभागिता और राज्य (State) की संरचनाओं में भागीदारी प्राप्त होती है। इसी प्रकार राज्य (State) भी नागरिकों से निष्ठा, विधि-पालन और सार्वजनिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा करता है।

आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों (States) में नागरिकता का प्रश्न केवल विधिक स्थिति तक सीमित नहीं रह गया है। वैश्वीकरण, प्रवासन, शरणार्थी संकट, पहचान-राजनीति और मानवाधिकारों की बहसों ने नागरिकता की पारंपरिक अवधारणा को चुनौती दी है। अब नागरिकता को केवल जन्म या कानूनी सदस्यता के आधार पर नहीं, बल्कि सामाजिक अधिकारों, सांस्कृतिक पहचान और लोकतांत्रिक सहभागिता के संदर्भ में भी समझा जाता है।

टी. एच. मार्शल ने अपनी प्रसिद्ध कृति '**सिटिज़नशिप एंड सोशल क्लास**' (Citizenship and Social Class) में नागरिकता को नागरिक (Civil), राजनीतिक (Political) और सामाजिक (Social) अधिकारों के विकास की प्रक्रिया के रूप में समझाया। उनके अनुसार आधुनिक नागरिकता केवल मतदान का अधिकार नहीं है, बल्कि शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा और सम्मानजनक जीवन के अधिकारों से भी जुड़ी हुई है।

भारतीय संदर्भ में नागरिकता का प्रश्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारत एक बहुभाषिक, बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक समाज है। भारतीय संविधान नागरिकता को समान राजनीतिक सदस्यता के रूप में स्वीकार करता है, जहाँ सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समानता और मौलिक अधिकार प्राप्त हैं।

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय राज्य (State) के सामने सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक यह थी कि विविधताओं से भरे समाज को समान नागरिकता के सिद्धांत के आधार पर संगठित किया जाए। संविधान निर्माताओं ने नागरिकता को धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्रीय पहचान से ऊपर उठाकर संवैधानिक समानता के आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया।

समकालीन समय में नागरिकता का प्रश्न और अधिक जटिल हो गया है। प्रवासन, दोहरी नागरिकता, शरणार्थी अधिकार, राष्ट्रीय सुरक्षा और पहचान-आधारित राजनीति ने नागरिकता की अवधारणा को व्यापक बहस का विषय बना दिया है। भारत में नागरिकता संशोधन अधिनियम (Citizenship Amendment Act) तथा राष्ट्रीय नागरिक पंजी (NRC) जैसे प्रश्नों ने नागरिकता की प्रकृति और राज्य की भूमिका को लेकर व्यापक सार्वजनिक विमर्श उत्पन्न किया। इस इकाई में नागरिकता की अवधारणा, उसके सिद्धांत, जुस सोली (Jus Soli) और जुस सैंग्विनिस (Jus Sanguinis) के सिद्धांत, भारतीय नागरिकता अधिनियम तथा उसके विभिन्न संशोधनों का अध्ययन किया जाएगा। साथ ही नागरिकता और लोकतांत्रिक शासन के मध्य संबंध को भी समझने का प्रयास किया जाएगा।

नागरिकता का अर्थ एवं अवधारणा

नागरिकता आधुनिक राजनीतिक विज्ञान की सबसे महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं में से एक है। सामान्य अर्थ में नागरिकता किसी व्यक्ति की किसी राज्य (State) के साथ विधिक सदस्यता को व्यक्त करती है। नागरिकता के माध्यम से व्यक्ति को राज्य (State) के भीतर अधिकार प्राप्त होते हैं तथा वह राज्य (State) के प्रति कुछ कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से भी बंधता है।

किन्तु नागरिकता की अवधारणा केवल विधिक संबंध तक सीमित नहीं है। यह राजनीतिक सहभागिता, सामाजिक पहचान, अधिकारों की प्राप्ति और लोकतांत्रिक समुदाय का सदस्य होने की भावना से भी जुड़ी हुई है। इसी कारण आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में नागरिकता को केवल कानूनी दर्जा नहीं, बल्कि सक्रिय राजनीतिक जीवन की प्रक्रिया के रूप में भी समझा जाता है।

प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में नागरिकता का संबंध प्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता से था। एथेंस में नागरिक वही माना जाता था जो सार्वजनिक जीवन और शासन की प्रक्रिया में भाग ले सके। किन्तु यह नागरिकता अत्यंत सीमित रूप में थी क्योंकि महिलाओं, दासों और विदेशी निवासियों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

रोमन साम्राज्य में नागरिकता की अवधारणा अधिक विधिक स्वरूप ग्रहण करती है। रोमन नागरिकता ने विधिक अधिकारों और राज्य की सुरक्षा पर बल दिया। धीरे-धीरे आधुनिक यूरोपीय राज्य-व्यवस्था के विकास के साथ नागरिकता राष्ट्र-राज्य की अवधारणा से जुड़ती चली गई।

आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में नागरिकता समान राजनीतिक सदस्यता के सिद्धांत पर आधारित मानी जाती है। प्रत्येक नागरिक को विधि के समक्ष समानता, राजनीतिक सहभागिता और मौलिक अधिकार प्राप्त होते हैं। इस प्रकार नागरिकता लोकतंत्र की आधारभूत शर्त बन जाती है।

टी. एच. मार्शल ने नागरिकता के विकास को तीन प्रमुख आयामों में विभाजित किया–

1. नागरिक अधिकार (Civil Rights)
2. राजनीतिक अधिकार (Political Rights)
3. सामाजिक अधिकार (Social Rights)

नागरिक अधिकारों में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, संपत्ति का अधिकार और विधिक सुरक्षा शामिल हैं। राजनीतिक अधिकारों में मतदान और प्रतिनिधित्व का अधिकार आता है। सामाजिक अधिकारों में शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा और सम्मानजनक जीवन से संबंधित अधिकार सम्मिलित हैं।

मार्शल का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि आधुनिक नागरिकता केवल कानूनी सदस्यता नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय और कल्याणकारी राज्य की अवधारणा से भी जुड़ी हुई है।

आधुनिक समय में नागरिकता के दो प्रमुख आयाम विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं–

- अधिकार (Rights)
- कर्तव्य (Duties)

नागरिक राज्य (State) से अधिकारों और सुरक्षा की अपेक्षा करता है, जबकि राज्य (State) नागरिकों से संविधान और विधि के प्रति निष्ठा, कर भुगतान, सार्वजनिक अनुशासन और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा करता है।

लोकतांत्रिक शासन में सक्रिय नागरिकता का विशेष महत्त्व है। केवल विधिक सदस्यता पर्याप्त नहीं मानी जाती। नागरिकों की राजनीतिक जागरूकता, मतदान में भागीदारी, सार्वजनिक विमर्श और सामाजिक उत्तरदायित्व लोकतंत्र को प्रभावी बनाते हैं। इसी कारण आधुनिक शासन-व्यवस्था में "participatory citizenship" अर्थात सहभागी नागरिकता की अवधारणा विकसित हुई है।

वैश्वीकरण के युग में नागरिकता की पारंपरिक अवधारणा नई चुनौतियों का सामना कर रही है। बड़ी संख्या में प्रवासन, बहुराष्ट्रीय पहचान, प्रवासी समुदायों और अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकारों ने यह प्रश्न उत्पन्न किया है कि नागरिकता का आधार केवल राष्ट्रीय राज्य होना चाहिए या नहीं।

कुछ विद्वानों ने "global citizenship" अर्थात वैश्विक नागरिकता की अवधारणा प्रस्तुत की है, जिसके अनुसार व्यक्ति केवल किसी एक राष्ट्र का सदस्य नहीं, बल्कि व्यापक वैश्विक समुदाय का भी हिस्सा है। यद्यपि यह अवधारणा अभी भी बहस का विषय है, फिर भी यह स्पष्ट है कि नागरिकता की आधुनिक समझ लगातार परिवर्तित हो रही है। भारतीय संदर्भ में नागरिकता संविधान के भाग–II में वर्णित है। भारतीय संविधान समान नागरिकता की अवधारणा को स्वीकार करता है। भारत में एकल नागरिकता (Single Citizenship) की व्यवस्था अपनाई गई है, जबकि कुछ संघीय देशों जैसे अमेरिका में दोहरी नागरिकता का तत्व भी दिखाई देता है। भारतीय नागरिकता धर्म, जाति या भाषा पर आधारित नहीं है। संविधान सभी नागरिकों को समान राजनीतिक सदस्यता प्रदान करता है। यही भारतीय लोकतंत्र की आधारभूत विशेषताओं में से एक है। इस प्रकार नागरिकता केवल राज्य की सदस्यता नहीं है। यह अधिकार, उत्तरदायित्व, राजनीतिक सहभागिता और सामाजिक पहचान की जटिल अवधारणा है। आधुनिक लोकतंत्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिक केवल अधिकारों के उपभोक्ता न बनें, बल्कि सक्रिय, जागरूक और उत्तरदायी सहभागी भी बनें।

1.3 नागरिकता : अर्थ, प्रकृति एवं विकास

नागरिकता आधुनिक राज्य-व्यवस्था की आधारभूत अवधारणाओं में से एक है। सामान्यतः नागरिकता से आशय किसी व्यक्ति की किसी राज्य (State) के साथ विधिक सदस्यता से होता है, जिसके माध्यम से उसे अधिकार, संरक्षण और राजनीतिक सहभागिता प्राप्त होती है। किन्तु राजनीतिक सिद्धांत में नागरिकता का अर्थ केवल कानूनी पहचान तक सीमित नहीं है। यह व्यक्ति और राज्य (State) के मध्य स्थापित राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक संबंध की व्यापक अवधारणा है।

नागरिकता की प्रकृति समय के साथ निरंतर परिवर्तित हुई है। प्राचीन काल में नागरिकता सीमित और विशिष्ट वर्गों तक केंद्रित थी, जबकि आधुनिक लोकतांत्रिक समाजों में इसे सार्वभौमिक राजनीतिक सदस्यता के रूप में स्वीकार किया गया।

प्राचीन यूनानी नगर-राज्यों में नागरिकता का संबंध प्रत्यक्ष राजनीतिक सहभागिता से था। अरस्तू ने नागरिक को वह व्यक्ति माना जो राज्य के शासन और न्याय-प्रक्रिया में भाग लेने में सक्षम हो। किन्तु यूनानी नागरिकता अत्यंत सीमित थी क्योंकि महिलाओं, दासों और विदेशी निवासियों को नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। इस प्रकार प्राचीन नागरिकता सहभागिता पर आधारित थी, परंतु समानता पर नहीं।

रोमन साम्राज्य में नागरिकता ने अधिक विधिक स्वरूप ग्रहण किया। रोमन नागरिकता के माध्यम से व्यक्ति को विधिक संरक्षण, संपत्ति संबंधी अधिकार और प्रशासनिक सुरक्षा प्राप्त होती थी। धीरे-धीरे नागरिकता का संबंध राजनीतिक समुदाय की सदस्यता से जुड़ने लगा।

मध्यकालीन यूरोप में सामंतवाद और राजसत्ता के प्रभुत्व के कारण आधुनिक नागरिकता की अवधारणा विकसित नहीं हो सकी। व्यक्ति की पहचान मुख्यतः धार्मिक, सामंती या स्थानीय संबंधों के आधार पर निर्धारित होती थी। आधुनिक नागरिकता का वास्तविक विकास आधुनिक राष्ट्र-राज्य और उदार लोकतंत्र के उदय के साथ हुआ।

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में सामाजिक संविदा सिद्धांतकारों जैसे थॉमस हॉब्स, जॉन लॉक और जाँ-जाक रूसो ने राज्य और नागरिक के संबंध को नए ढंग से परिभाषित किया। लॉक ने नागरिक अधिकारों और सीमित

सरकार पर बल दिया, जबकि रूसो ने सामान्य इच्छा (General Will) और राजनीतिक सहभागिता को महत्त्व दिया। फ्रांसीसी क्रांति और अमेरिकी क्रांति ने नागरिकता को समानता, अधिकार और जनसत्ता के सिद्धांत से जोड़ा।

आधुनिक लोकतांत्रिक नागरिकता का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व विधिक समानता है। नागरिकता का अर्थ यह है कि राज्य के सभी सदस्य विधि के समक्ष समान माने जाएँ और उन्हें समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। मतदान का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और संवैधानिक सुरक्षा आधुनिक नागरिकता की आधारभूत विशेषताएँ हैं।

टी. एच. मार्शल ने नागरिकता के विकास को ऐतिहासिक प्रक्रिया के रूप में समझाया। उनकी प्रसिद्ध कृति 'सिटिज़नशिप एंड सोशल क्लास' (*Citizenship and Social Class*) के अनुसार आधुनिक नागरिकता तीन स्तरों पर विकसित हुई–

- नागरिक अधिकार (Civil Rights)
- राजनीतिक अधिकार (Political Rights)
- सामाजिक अधिकार (Social Rights)

नागरिक अधिकारों में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, विधिक सुरक्षा और संपत्ति संबंधी अधिकार शामिल हैं। राजनीतिक अधिकारों में मतदान और प्रतिनिधित्व का अधिकार सम्मिलित है। सामाजिक अधिकारों में शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा और न्यूनतम जीवन-स्तर से जुड़े अधिकार आते हैं।

मार्शल का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि आधुनिक नागरिकता केवल राजनीतिक सदस्यता नहीं, बल्कि सामाजिक कल्याण और न्याय से भी जुड़ी हुई है। इसी कारण आधुनिक कल्याणकारी राज्य नागरिकता को सामाजिक अधिकारों के विस्तार से जोड़ता है।

नागरिकता की प्रकृति को समझने के लिए उसके प्रमुख आयामों पर ध्यान देना आवश्यक है–

(1) विधिक आयाम : नागरिकता व्यक्ति की कानूनी पहचान को निर्धारित करती है। नागरिक को राज्य (State) की विधिक सुरक्षा प्राप्त होती है तथा वह राज्य की विधिक संरचना का हिस्सा बनता है।

(2) राजनीतिक आयाम : नागरिकता व्यक्ति को राजनीतिक सहभागिता का अधिकार प्रदान करती है। मतदान, चुनाव लड़ना और सार्वजनिक जीवन में भाग लेना इसी आयाम से संबंधित हैं।

(3) सामाजिक आयाम : आधुनिक नागरिकता केवल राजनीतिक अधिकारों तक सीमित नहीं है। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा और सम्मानजनक जीवन की व्यवस्था भी नागरिकता का हिस्सा मानी जाती है।

(4) नैतिक आयाम : नागरिकता केवल अधिकार प्राप्त करने की व्यवस्था नहीं है। यह सार्वजनिक उत्तरदायित्व, विधि-पालन और लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रति प्रतिबद्धता भी उत्पन्न करती है।

समकालीन विश्व में नागरिकता की अवधारणा नई चुनौतियों का सामना कर रही है। वैश्वीकरण, अंतरराष्ट्रीय प्रवासन, शरणार्थी संकट और बहुसांस्कृतिक समाजों के उदय ने नागरिकता की पारंपरिक सीमाओं को चुनौती दी है।

कई विद्वान यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या नागरिकता केवल राष्ट्रीय सीमाओं तक सीमित रहनी चाहिए। इसी संदर्भ में "वैश्विक नागरिकता" (Global Citizenship) की अवधारणा विकसित हुई है, जो मानवाधिकारों और वैश्विक उत्तरदायित्व पर बल देती है।

भारतीय संदर्भ में नागरिकता की अवधारणा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारत विविधताओं से भरा लोकतांत्रिक समाज है। भारतीय संविधान नागरिकता को धर्म, जाति, भाषा और क्षेत्रीय पहचान से ऊपर उठाकर समान संवैधानिक सदस्यता के रूप में स्थापित करता है।

भारत में नागरिकता का उद्देश्य केवल राज्य की सदस्यता प्रदान करना नहीं था, बल्कि औपनिवेशिक शासन के बाद एक आधुनिक लोकतांत्रिक राष्ट्र का निर्माण करना भी था। इसी कारण भारतीय नागरिकता की अवधारणा समानता, धर्मनिरपेक्षता और संवैधानिक अधिकारों से गहराई से जुड़ी हुई है।

1.4 नागरिकता के प्रमुख सिद्धांत

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में नागरिकता को समझने के लिए विभिन्न सिद्धांत विकसित हुए हैं। ये सिद्धांत नागरिक और राज्य के संबंध, अधिकारों की प्रकृति तथा राजनीतिक सहभागिता के प्रश्न को अलग-अलग दृष्टिकोणों से समझाते हैं।

(1) उदारवादी सिद्धांत (Liberal Theory of Citizenship) : उदारवादी दृष्टिकोण नागरिकता को मुख्यतः व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतंत्रताओं के संदर्भ में समझता है। जॉन लॉक और जॉन स्टुअर्ट मिल जैसे विचारकों ने राज्य की शक्ति को सीमित करने तथा नागरिक स्वतंत्रता की रक्षा पर बल दिया।

उदारवादी नागरिकता का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति की स्वतंत्रता और अधिकारों की सुरक्षा है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, विधिक समानता, संपत्ति का अधिकार और राजनीतिक प्रतिनिधित्व इस दृष्टिकोण के प्रमुख तत्व हैं।

आधुनिक उदार लोकतंत्र इसी विचार पर आधारित है कि राज्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए अस्तित्व में है।

(2) गणतांत्रिक सिद्धांत (Republican Theory) : गणतांत्रिक परंपरा नागरिकता को सक्रिय राजनीतिक सहभागिता से जोड़ती है। इस दृष्टिकोण में नागरिक केवल अधिकारों का उपभोक्ता नहीं होता, बल्कि सार्वजनिक जीवन का सक्रिय सहभागी भी होता है।

रूसो और अरस्तू जैसे विचारकों ने नागरिक सद्गुण (Civic Virtue) और सार्वजनिक उत्तरदायित्व पर बल दिया। इस दृष्टिकोण के अनुसार लोकतंत्र तभी सफल होगा जब नागरिक सक्रिय रूप से शासन और सार्वजनिक जीवन में भाग लेंगे।

(3) सामुदायिक सिद्धांत (Communitarian Theory) : सामुदायिक दृष्टिकोण उदारवाद की अत्यधिक व्यक्तिवादी प्रवृत्ति की आलोचना करता है। माइकल सैंडल और चार्ल्स टेलर जैसे विचारकों के अनुसार व्यक्ति को उसके समुदाय और सांस्कृतिक पहचान से अलग करके नहीं समझा जा सकता।

इस दृष्टिकोण में नागरिकता केवल व्यक्तिगत अधिकारों की व्यवस्था नहीं, बल्कि साझा सामाजिक मूल्यों और सामुदायिक संबंधों की भी अभिव्यक्ति है।

(4) मार्क्सवादी दृष्टिकोण : मार्क्सवादी विचारक उदार नागरिकता की आलोचना करते हुए कहते हैं कि औपचारिक राजनीतिक समानता वास्तविक सामाजिक और आर्थिक समानता सुनिश्चित नहीं करती। पूँजीवादी समाज में आर्थिक असमानता नागरिकता की वास्तविक प्रकृति को प्रभावित करती है।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार यदि समाज में आर्थिक शोषण और वर्गीय विषमता बनी रहे, तो नागरिकता केवल औपचारिक अधिकारों तक सीमित रह जाती है।

(5) नारीवादी दृष्टिकोण : नारीवादी सिद्धांत यह तर्क देता है कि पारंपरिक नागरिकता सिद्धांतों ने महिलाओं के अनुभवों और अधिकारों की उपेक्षा की। लंबे समय तक महिलाओं को मतदान और राजनीतिक प्रतिनिधित्व से वंचित रखा गया।

नारीवादी दृष्टिकोण नागरिकता को लैंगिक समानता, प्रतिनिधित्व और सामाजिक न्याय के संदर्भ में पुनर्परिभाषित करता है।

(6) बहुसांस्कृतिक नागरिकता : आधुनिक बहुसांस्कृतिक समाजों में नागरिकता केवल समान अधिकारों तक सीमित नहीं मानी जाती। विभिन्न सांस्कृतिक, भाषाई और धार्मिक समुदाय अपनी विशिष्ट पहचान की मान्यता भी चाहते हैं। विल किमलिका जैसे विचारकों ने बहुसांस्कृतिक नागरिकता की अवधारणा प्रस्तुत की, जिसके अनुसार लोकतांत्रिक राज्य को सांस्कृतिक विविधता का सम्मान करना चाहिए। इस प्रकार नागरिकता की अवधारणा बहुआयामी है। यह केवल कानूनी सदस्यता नहीं, बल्कि अधिकारों, सहभागिता, सामाजिक न्याय और सांस्कृतिक पहचान का जटिल राजनीतिक ढाँचा है।

1.5 जुस सोली (Jus Soli): अवधारणा एवं विशेषताएँ

नागरिकता प्राप्त करने के विभिन्न सिद्धांतों में जुस सोली (Jus Soli) अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत माना जाता है। "जुस सोली" एक लैटिन शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है "भूमि का अधिकार" (Right of the Soil)। इस सिद्धांत के अनुसार किसी व्यक्ति की नागरिकता उस स्थान के आधार पर निर्धारित होती है जहाँ उसका जन्म हुआ हो। अर्थात यदि कोई व्यक्ति किसी राज्य (State) की सीमा के भीतर जन्म लेता है, तो सामान्यतः उसे उस राज्य (State) की नागरिकता प्राप्त हो जाती है, चाहे उसके माता-पिता किसी भी देश के नागरिक क्यों न हों। आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में नागरिकता संबंधी नीतियों के विकास में जुस सोली सिद्धांत का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। विशेष रूप से अमेरिका, कनाडा और कुछ लैटिन अमेरिकी देशों में इस सिद्धांत को व्यापक रूप से अपनाया गया। इन देशों में ऐतिहासिक रूप से प्रवासन और बहुसांस्कृतिक समाज का विकास हुआ, इसलिए जन्म-आधारित नागरिकता को राष्ट्रीय एकीकरण का साधन माना गया।

जुस सोली सिद्धांत का मूल आधार यह है कि राज्य की भौगोलिक सीमा के भीतर जन्म लेने वाला व्यक्ति उस राजनीतिक समुदाय का स्वाभाविक सदस्य है। यह सिद्धांत नागरिकता को रक्त, जातीयता या वंश से जोड़ने के बजाय क्षेत्रीय सदस्यता से जोड़ता है। इसी कारण इसे अपेक्षाकृत अधिक समावेशी और उदार सिद्धांत माना जाता है। इस सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण लोकतांत्रिक पक्ष यह है कि यह नागरिकता को जन्मजात जातीय या सांस्कृतिक पहचान के बजाय संवैधानिक और राजनीतिक सदस्यता के रूप में देखता है। आधुनिक बहुसांस्कृतिक समाजों में यह दृष्टिकोण विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण माना गया क्योंकि यह विभिन्न प्रवासी समुदायों को राष्ट्रीय जीवन में सम्मिलित करने में सहायता करता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण है। अमेरिकी संविधान के चौदहवें संशोधन (Fourteenth Amendment) के अनुसार अमेरिका की भूमि पर जन्म लेने वाला लगभग प्रत्येक व्यक्ति अमेरिकी नागरिक

माना जाता है। यह व्यवस्था अमेरिकी राष्ट्रवाद की उस अवधारणा को दर्शाती है जो नागरिकता को संवैधानिक सदस्यता और राजनीतिक निष्ठा के आधार पर समझती है।

जुस सोली सिद्धांत के समर्थकों का तर्क है कि यह सामाजिक समावेशन और राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहित करता है। यदि किसी देश में जन्म लेने वाले बच्चों को नागरिकता से वंचित रखा जाए, तो वे लंबे समय तक सामाजिक और राजनीतिक रूप से हाशिए पर रह सकते हैं। इसलिए जन्म-आधारित नागरिकता सामाजिक स्थिरता और लोकतांत्रिक समानता को मजबूत कर सकती है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धांत **राज्यविहीनता (Statelessness)** की समस्या को कम करने में भी सहायक माना जाता है। कई बार ऐसे बच्चे जन्म लेते हैं जिनके माता-पिता की नागरिकता अस्पष्ट होती है या वे शरणार्थी अथवा प्रवासी होते हैं। जुस सोली सिद्धांत ऐसे व्यक्तियों को नागरिकता प्रदान करके उन्हें कानूनी सुरक्षा और पहचान उपलब्ध कराता है।

किन्तु जुस सोली सिद्धांत की आलोचनाएँ भी हुई हैं। आलोचकों का मत है कि इससे **"birth tourism"** जैसी प्रवृत्तियाँ बढ़ सकती हैं, जहाँ लोग केवल नागरिकता प्राप्त करने के उद्देश्य से किसी देश में बच्चे का जन्म कराते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ देशों में यह तर्क भी दिया गया कि अनियंत्रित प्रवासन के कारण राष्ट्रीय संसाधनों और पहचान पर दबाव बढ़ सकता है। इसी कारण अनेक देशों ने पूर्ण जुस सोली व्यवस्था को सीमित कर दिया है। अब कई राज्य जन्म के साथ-साथ माता-पिता की नागरिकता, वैध निवास अथवा अन्य शर्तों को भी नागरिकता से जोड़ते हैं।

भारतीय संदर्भ में भी प्रारंभिक वर्षों में नागरिकता नीति अपेक्षाकृत जुस सोली आधारित थी। भारतीय संविधान और नागरिकता अधिनियम, 1955 के प्रारंभिक स्वरूप में भारत की भूमि पर जन्म लेने वाले अधिकांश व्यक्तियों को नागरिकता प्राप्त हो जाती थी। किन्तु बाद के दशकों में अवैध प्रवासन और सीमा-संबंधी चिंताओं के कारण इस व्यवस्था में परिवर्तन किए गए। 1986 और 2003 के संशोधनों के बाद भारतीय नागरिकता कानून अधिक नियंत्रित हो गया। अब केवल भारत में जन्म लेना पर्याप्त नहीं है, बल्कि माता-पिता की नागरिकता और वैध स्थिति भी महत्त्वपूर्ण शर्त बन गई है। इससे स्पष्ट होता है कि आधुनिक राज्यों में नागरिकता नीति राष्ट्रीय सुरक्षा, प्रवासन और पहचान की राजनीति से भी प्रभावित होती है।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से जुस सोली नागरिकता की उदार और समावेशी अवधारणा को व्यक्त करता है। यह राज्य (State) को केवल जातीय समुदाय नहीं, बल्कि संवैधानिक और राजनीतिक समुदाय के रूप में देखने की दिशा में आगे बढ़ता है। फिर भी आधुनिक राष्ट्र-राज्यों में इस सिद्धांत का प्रयोग पूर्णतः निरपेक्ष नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय हितों और सुरक्षा संबंधी चिंताओं के साथ संतुलित रूप में किया जाता है।

1.6 जुस सैंग्विनिस (Jus Sanguinis): अवधारणा एवं विशेषताएँ

जुस सैंग्विनिस (Jus Sanguinis) नागरिकता प्राप्ति का दूसरा प्रमुख सिद्धांत है। यह भी एक लैटिन शब्द है जिसका अर्थ है "रक्त का अधिकार" (Right of Blood)। इस सिद्धांत के अनुसार किसी व्यक्ति की नागरिकता उसके जन्म-स्थान से नहीं, बल्कि उसके माता-पिता की नागरिकता से निर्धारित होती है। अर्थात यदि किसी व्यक्ति के माता-पिता किसी विशेष राज्य (State) के नागरिक हैं, तो वह व्यक्ति सामान्यतः उसी राज्य (State) का नागरिक माना जाएगा, चाहे उसका जन्म किसी अन्य देश में क्यों न हुआ हो। यह सिद्धांत विशेष रूप से उन देशों में विकसित हुआ जहाँ राष्ट्रवाद की अवधारणा जातीय, सांस्कृतिक या वंशीय पहचान से जुड़ी हुई थी। जर्मनी, इटली और अनेक यूरोपीय देशों में लंबे समय तक नागरिकता मुख्यतः जुस सैंग्विनिस के आधार पर निर्धारित की जाती रही। जुस सैंग्विनिस का आधार यह विचार है कि राष्ट्र केवल राजनीतिक सीमा नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और

ऐतिहासिक समुदाय भी है। इस दृष्टिकोण में नागरिकता केवल किसी क्षेत्र में जन्म लेने से प्राप्त नहीं होती, बल्कि साझा वंश, संस्कृति, भाषा और राष्ट्रीय पहचान से जुड़ी होती है।

इस सिद्धांत के समर्थकों का तर्क है कि नागरिकता केवल कानूनी दर्जा नहीं, बल्कि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संबंध भी है। इसलिए राज्य को अपनी राष्ट्रीय पहचान और सांस्कृतिक निरंतरता बनाए रखने का अधिकार होना चाहिए।

जुस सैंग्विनिस विशेष रूप से प्रवासी समुदायों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यदि किसी देश के नागरिक विदेश में रहते हों और उनके बच्चे विदेश में जन्म लें, तब भी यह सिद्धांत उन्हें मूल देश की नागरिकता प्रदान कर सकता है। इस प्रकार यह प्रवासी समुदायों और मूल राष्ट्र के बीच संबंध बनाए रखने में सहायता करता है।

उदाहरण के लिए लंबे समय तक जर्मनी में नागरिकता मुख्यतः जुस सैंग्विनिस के आधार पर निर्धारित होती रही। तुर्की और अन्य देशों से आए प्रवासी परिवारों की कई पीढ़ियाँ जर्मनी में रहने के बावजूद स्वतः जर्मन नागरिक नहीं बन पाती थीं क्योंकि नागरिकता का आधार जन्म-स्थान नहीं, बल्कि वंश था। जुस सैंग्विनिस सिद्धांत की आलोचना यह कहकर की जाती है कि यह कई बार सामाजिक बहिष्कार और सांस्कृतिक संकीर्णता को बढ़ावा दे सकता है। यदि किसी देश में लंबे समय से रहने वाले समुदायों को केवल इसलिए नागरिकता से वंचित रखा जाए क्योंकि उनका वंश अलग है, तो सामाजिक असमानता और राजनीतिक अलगाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है।

आधुनिक बहुसांस्कृतिक समाजों में यह प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गया है कि क्या नागरिकता का आधार केवल वंश होना चाहिए। वैश्वीकरण और प्रवासन के युग में अनेक समाज सांस्कृतिक रूप से मिश्रित हो चुके हैं। इसलिए कई देशों ने जुस सैंग्विनिस और जुस सोली दोनों सिद्धांतों का मिश्रित रूप अपनाया है। भारतीय नागरिकता व्यवस्था में भी समय के साथ जुस सैंग्विनिस के तत्व अधिक महत्त्वपूर्ण होते गए। प्रारंभिक संविधान अपेक्षाकृत जन्म-आधारित नागरिकता के निकट था, किन्तु बाद के संशोधनों में माता-पिता की नागरिकता और वैध प्रवासी स्थिति को अधिक महत्त्व दिया गया।

विशेष रूप से 2003 के संशोधन के बाद यह प्रावधान किया गया कि यदि किसी व्यक्ति के माता-पिता में से कोई एक अवैध प्रवासी है, तो केवल भारत में जन्म लेने के आधार पर नागरिकता प्राप्त नहीं होगी। इससे स्पष्ट है कि भारतीय नागरिकता नीति में जन्म-आधारित सिद्धांत से आंशिक रूप से हटकर वंश और वैध स्थिति आधारित दृष्टिकोण की ओर परिवर्तन हुआ।राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से जुस सैंग्विनिस राष्ट्रीय पहचान, सांस्कृतिक निरंतरता और ऐतिहासिक समुदाय की अवधारणा से जुड़ा हुआ है। किन्तु समकालीन लोकतांत्रिक समाजों में केवल वंश-आधारित नागरिकता को पर्याप्त नहीं माना जाता क्योंकि आधुनिक राष्ट्र बहुसांस्कृतिक और प्रवासी समाजों में परिवर्तित हो चुके हैं।

इसी कारण आज अधिकांश आधुनिक राज्य (State) इन दोनों सिद्धांतों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करते हैं। नागरिकता की समकालीन अवधारणा अब केवल जन्म या वंश तक सीमित नहीं है, बल्कि राष्ट्रीय सुरक्षा, मानवाधिकार, प्रवासन और लोकतांत्रिक समावेशन जैसे व्यापक प्रश्नों से भी जुड़ चुकी है।

1.7 जुस सोली एवं जुस सैंग्विनिस : तुलनात्मक विश्लेषण

जुस सोली और जुस सैंग्विनिस आधुनिक नागरिकता व्यवस्था के दो प्रमुख सिद्धांत हैं। दोनों सिद्धांत नागरिकता प्रदान करने के आधार को अलग-अलग ढंग से परिभाषित करते हैं। जुस सोली नागरिकता को जन्म-स्थान से जोड़ता है, जबकि जुस सैंग्विनिस नागरिकता को वंश और पारिवारिक संबंधों से जोड़ता है। आधुनिक राष्ट्र-राज्यों की नागरिकता नीतियाँ प्रायः इन दोनों सिद्धांतों के विभिन्न संयोजनों पर आधारित होती हैं। राजनीतिक सिद्धांत की

दृष्टि से दोनों सिद्धांत राष्ट्र और नागरिकता की अलग-अलग अवधारणाओं को व्यक्त करते हैं। जुस सोली नागरिकता की क्षेत्रीय और संवैधानिक अवधारणा का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें राज्य (State) को एक राजनीतिक समुदाय के रूप में देखा जाता है जहाँ किसी भू-भाग में जन्म लेने वाला व्यक्ति उस समुदाय का सदस्य बन सकता है। इसके विपरीत जुस सैंग्विनिस राष्ट्र को ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और वंशीय समुदाय के रूप में देखता है।

जुस सोली को सामान्यतः अधिक उदार और समावेशी सिद्धांत माना जाता है क्योंकि यह नागरिकता को जन्म और निवास से जोड़ता है, न कि जातीय या वंशीय पहचान से। यह सिद्धांत प्रवासी समुदायों के समावेशन और बहुसांस्कृतिक समाजों के निर्माण में सहायक माना गया है। अमेरिका और कनाडा जैसे देशों में इस सिद्धांत ने विविध समुदायों को राष्ट्रीय जीवन में सम्मिलित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

इसके विपरीत जुस सैंग्विनिस राष्ट्रीय पहचान और सांस्कृतिक निरंतरता पर बल देता है। इस सिद्धांत के समर्थकों का तर्क है कि राष्ट्र केवल राजनीतिक सीमा नहीं, बल्कि साझा इतिहास, संस्कृति और परंपरा से निर्मित समुदाय भी है। इसलिए नागरिकता का आधार वंश और पारिवारिक संबंध होना चाहिए।

समकालीन विश्व में दोनों सिद्धांतों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। केवल जुस सोली पर आधारित व्यवस्था को कुछ देशों ने राष्ट्रीय सुरक्षा और अवैध प्रवासन की दृष्टि से चुनौतीपूर्ण माना, जबकि केवल जुस सैंग्विनिस आधारित व्यवस्था को सामाजिक बहिष्कार और लोकतांत्रिक असमानता का कारण माना गया। भारत का उदाहरण इस परिवर्तन को स्पष्ट रूप से दर्शाता है। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय नागरिकता नीति अपेक्षाकृत जुस सोली आधारित थी क्योंकि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में समावेशी नागरिकता को महत्त्व दिया गया। किन्तु बाद के दशकों में अवैध प्रवासन, सीमा-सुरक्षा और पहचान-राजनीति के प्रश्नों के कारण नागरिकता नीति अधिक नियंत्रित होती गई।

1986 और 2003 के संशोधनों के बाद भारतीय नागरिकता कानून में माता-पिता की नागरिकता और वैध स्थिति को अधिक महत्त्व दिया गया। इस प्रकार भारतीय नागरिकता व्यवस्था में जुस सोली और जुस सैंग्विनिस दोनों तत्वों का मिश्रित स्वरूप दिखाई देता है। वैश्वीकरण और प्रवासन के युग में नागरिकता का प्रश्न और अधिक जटिल हो गया है। बड़ी संख्या में लोग शिक्षा, रोजगार और सुरक्षा के लिए विभिन्न देशों में प्रवास कर रहे हैं। ऐसे में नागरिकता केवल जन्म या वंश का प्रश्न नहीं रह गई, बल्कि मानवाधिकार, सामाजिक समावेशन और राष्ट्रीय सुरक्षा का भी विषय बन गई है। आधुनिक लोकतंत्रों के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे राष्ट्रीय पहचान और लोकतांत्रिक समावेशन के बीच संतुलन कैसे स्थापित करें। यदि नागरिकता अत्यधिक संकीर्ण और वंश-आधारित होगी, तो सामाजिक बहिष्कार की समस्या उत्पन्न हो सकती है। वहीं यदि नागरिकता पूरी तरह खुली और अनियंत्रित होगी, तो राष्ट्रीय सुरक्षा और संसाधनों के वितरण से जुड़े प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं। इस प्रकार जुस सोली और जुस सैंग्विनिस केवल कानूनी सिद्धांत नहीं हैं। वे राष्ट्र, पहचान, लोकतंत्र और राज्य की प्रकृति से जुड़े व्यापक राजनीतिक प्रश्नों को भी व्यक्त करते हैं। आधुनिक नागरिकता व्यवस्था प्रायः इन दोनों सिद्धांतों के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास करती है ताकि राष्ट्रीय हितों और लोकतांत्रिक मूल्यों दोनों की रक्षा की जा सके।

1.8 भारतीय संविधान में नागरिकता

भारतीय संविधान में नागरिकता का प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि स्वतंत्रता और विभाजन के समय भारत अभूतपूर्व सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों से गुजर रहा था। विभाजन के कारण बड़े पैमाने पर जनसंख्या का विस्थापन हुआ तथा लाखों लोग भारत और पाकिस्तान के बीच प्रवास कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति में संविधान

निर्माताओं के सामने यह चुनौती थी कि भारतीय नागरिकता की प्रकृति और आधार को किस प्रकार निर्धारित किया जाए।

भारतीय संविधान के भाग–II में अनुच्छेद 5 से 11 तक नागरिकता संबंधी प्रावधान दिए गए हैं। संविधान निर्माताओं ने नागरिकता को धर्म, जाति या भाषा के आधार पर नहीं, बल्कि संवैधानिक सदस्यता के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया। यही भारतीय लोकतंत्र और धर्मनिरपेक्षता की आधारभूत विशेषताओं में से एक है।

अनुच्छेद 5 उन व्यक्तियों से संबंधित है जो संविधान लागू होने के समय भारत में निवास कर रहे थे। इसके अनुसार वे व्यक्ति भारतीय नागरिक माने गए जिनका भारत में निवास था और जिनका जन्म भारत में हुआ था, अथवा जिनके माता-पिता भारत में जन्मे थे, अथवा जिन्होंने कम-से-कम पाँच वर्षों तक भारत में निवास किया था।

अनुच्छेद 6 उन व्यक्तियों से संबंधित है जो पाकिस्तान से भारत आए थे। विभाजन की परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए संविधान ने ऐसे प्रवासियों को नागरिकता प्रदान करने के लिए विशेष प्रावधान किए।

अनुच्छेद 7 उन व्यक्तियों से संबंधित था जो भारत से पाकिस्तान चले गए थे, किन्तु बाद में वापस लौटे। संविधान निर्माताओं को इस जटिल प्रश्न का समाधान करना पड़ा कि ऐसे व्यक्तियों की नागरिकता किस आधार पर निर्धारित की जाए।

अनुच्छेद 8 विदेशों में रहने वाले भारतीय मूल के व्यक्तियों से संबंधित है। इसके अंतर्गत भारतीय मूल के वे व्यक्ति जो विदेशों में रह रहे थे, भारतीय राजनयिक प्रतिनिधियों के समक्ष पंजीकरण के माध्यम से भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते थे।

अनुच्छेद 9 यह स्पष्ट करता है कि यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर लेता है, तो वह भारतीय नागरिक नहीं रहेगा। भारत में पूर्ण दोहरी नागरिकता (Dual Citizenship) की व्यवस्था नहीं है।

अनुच्छेद 10 नागरिकता के अधिकारों की निरंतरता को सुनिश्चित करता है, जबकि अनुच्छेद 11 संसद को नागरिकता संबंधी विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है। इसी शक्ति के आधार पर संसद ने 1955 में नागरिकता अधिनियम (Citizenship Act, 1955) पारित किया।

भारतीय संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता "एकल नागरिकता" (Single Citizenship) की व्यवस्था है। भारत एक संघीय राज्य होने के बावजूद यहाँ अमेरिकी व्यवस्था की तरह संघीय और प्रांतीय दोहरी नागरिकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति केवल भारतीय नागरिक होता है।

एकल नागरिकता का उद्देश्य राष्ट्रीय एकता और समान राजनीतिक सदस्यता को मजबूत करना था। संविधान निर्माताओं का मानना था कि विविधताओं से भरे समाज में यदि नागरिकता को क्षेत्रीय आधार पर विभाजित किया गया, तो राष्ट्रीय एकीकरण प्रभावित हो सकता है।

भारतीय संविधान नागरिकता को लोकतांत्रिक समानता से जोड़ता है। सभी नागरिकों को विधि के समक्ष समानता, मौलिक अधिकार और राजनीतिक सहभागिता का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार भारतीय नागरिकता केवल कानूनी स्थिति नहीं, बल्कि संवैधानिक लोकतंत्र की आधारशिला है।

फिर भी भारतीय नागरिकता का प्रश्न समय के साथ राजनीतिक बहसों का विषय बनता गया। प्रवासन, सीमा-सुरक्षा, शरणार्थी संकट और पहचान-राजनीति ने नागरिकता के प्रश्न को और अधिक जटिल बना दिया। विशेष

रूप से असम आंदोलन, अवैध प्रवासन और नागरिकता संशोधन अधिनियम (CAA) जैसे मुद्दों ने नागरिकता की प्रकृति पर व्यापक सार्वजनिक बहस उत्पन्न की।

भारतीय संविधान का मूल दृष्टिकोण समावेशी नागरिकता का था, किन्तु बदलती राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण नागरिकता नीति में समय-समय पर परिवर्तन किए गए। यही कारण है कि भारतीय नागरिकता व्यवस्था को समझने के लिए संविधान के साथ-साथ नागरिकता अधिनियम और उसके संशोधनों का अध्ययन भी आवश्यक है।

1.9 भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955

भारतीय संविधान ने नागरिकता संबंधी मूल प्रावधान अवश्य स्थापित किए, किन्तु नागरिकता की विस्तृत व्यवस्था को विनियमित करने की शक्ति संसद को प्रदान की गई। इसी उद्देश्य से भारतीय संसद ने 1955 में नागरिकता अधिनियम (Citizenship Act, 1955) पारित किया। यह अधिनियम भारतीय नागरिकता प्राप्त करने, समाप्त होने तथा उससे संबंधित विभिन्न प्रक्रियाओं को निर्धारित करता है।

भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 स्वतंत्र भारत की नागरिकता व्यवस्था का प्रमुख विधिक आधार है। समय के साथ बदलती राजनीतिक, सामाजिक और सुरक्षा संबंधी परिस्थितियों के अनुसार इसमें कई संशोधन किए गए। इस अधिनियम के माध्यम से यह निर्धारित किया गया कि कौन भारतीय नागरिक माना जाएगा और किन परिस्थितियों में नागरिकता प्राप्त अथवा समाप्त की जा सकती है।

नागरिकता अधिनियम, 1955 के अनुसार भारतीय नागरिकता प्राप्त करने के पाँच प्रमुख आधार हैं–

1. जन्म द्वारा नागरिकता
2. वंश द्वारा नागरिकता
3. पंजीकरण द्वारा नागरिकता
4. प्राकृतिककरण द्वारा नागरिकता
5. क्षेत्र के भारत में विलय द्वारा नागरिकता

इन प्रावधानों से स्पष्ट होता है कि भारतीय नागरिकता व्यवस्था में जुस सोली और जुस सैंग्विनिस दोनों सिद्धांतों के तत्व मौजूद हैं।

(1) जन्म द्वारा नागरिकता : प्रारंभिक व्यवस्था के अनुसार भारत में जन्म लेने वाला लगभग प्रत्येक व्यक्ति भारतीय नागरिक माना जाता था। यह व्यवस्था अपेक्षाकृत उदार और समावेशी थी।

किन्तु समय के साथ अवैध प्रवासन और सीमा-संबंधी चिंताओं के कारण इस प्रावधान में परिवर्तन किए गए।

- 26 जनवरी 1950 से 1 जुलाई 1987 के बीच भारत में जन्म लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति भारतीय नागरिक माना गया।
- 1 जुलाई 1987 से 3 दिसंबर 2004 के बीच जन्म लेने वाले व्यक्ति के लिए यह आवश्यक कर दिया गया कि उसके माता-पिता में से कम-से-कम एक भारतीय नागरिक हो।

- 3 दिसंबर 2004 के बाद जन्म लेने वाले व्यक्ति के लिए यह शर्त जोड़ी गई कि माता-पिता में से एक भारतीय नागरिक हो तथा दूसरा अवैध प्रवासी न हो।

यह परिवर्तन भारतीय नागरिकता नीति में जन्म-आधारित सिद्धांत से नियंत्रित नागरिकता की दिशा में परिवर्तन को दर्शाता है।

(2) वंश द्वारा नागरिकता : यदि किसी व्यक्ति का जन्म विदेश में हुआ हो, किन्तु उसके माता-पिता भारतीय नागरिक हों, तो वह वंश के आधार पर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकता है। यह प्रावधान प्रवासी भारतीय समुदायों और भारतीय मूल के व्यक्तियों के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है।

समय के साथ इसमें भी पंजीकरण और दस्तावेज़ीकरण संबंधी शर्तें जोड़ी गईं ताकि नागरिकता की प्रक्रिया अधिक नियंत्रित और प्रमाणित हो सके।

(3) पंजीकरण द्वारा नागरिकता : कुछ विशेष श्रेणियों के व्यक्ति पंजीकरण के माध्यम से भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। इसमें भारतीय मूल के व्यक्ति, भारतीय नागरिक से विवाह करने वाले व्यक्ति तथा लंबे समय से भारत में निवास कर रहे लोग शामिल हो सकते हैं।

यह प्रक्रिया सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों और औपचारिकताओं के अधीन होती है।

(4) प्राकृतिककरण द्वारा नागरिकता : कोई विदेशी व्यक्ति यदि निर्धारित अवधि तक भारत में निवास करे और सरकार द्वारा निर्धारित अन्य शर्तों को पूरा करे, तो वह प्राकृतिककरण (Naturalization) के माध्यम से भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकता है।

इस प्रक्रिया में सामान्यतः निवास अवधि, सदाचार, भारतीय संविधान के प्रति निष्ठा और भारतीय समाज में समावेशन जैसे तत्वों को ध्यान में रखा जाता है।

(5) क्षेत्र के विलय द्वारा नागरिकता : यदि कोई नया क्षेत्र भारत का हिस्सा बनता है, तो उस क्षेत्र के निवासी भारत सरकार द्वारा निर्धारित प्रावधानों के अनुसार भारतीय नागरिक बन सकते हैं। गोवा, दमन एवं दीव तथा पुदुच्चेरी जैसे क्षेत्रों के भारत में सम्मिलन के समय इस प्रकार की व्यवस्थाएँ लागू की गई थीं।

भारतीय नागरिकता अधिनियम केवल नागरिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया तक सीमित नहीं है। इसमें नागरिकता समाप्त होने की व्यवस्थाएँ भी दी गई हैं। भारतीय नागरिकता तीन प्रमुख परिस्थितियों में समाप्त हो सकती है–

- त्याग (Renunciation)
- समाप्ति (Termination)
- वंचन (Deprivation)

यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर लेता है, तो सामान्यतः उसकी भारतीय नागरिकता समाप्त हो जाती है। भारत पूर्ण दोहरी नागरिकता की अनुमति नहीं देता।

हालाँकि भारत सरकार ने प्रवासी भारतीय समुदायों के साथ संबंध बनाए रखने के उद्देश्य से "भारतीय मूल के विदेशी नागरिक" (Overseas Citizen of India – OCI) जैसी व्यवस्था विकसित की। यह पूर्ण नागरिकता नहीं है, बल्कि सीमित सुविधाओं और दीर्घकालिक संबंधों की व्यवस्था है। OCI धारकों को मतदान, चुनाव लड़ने या संवैधानिक पद ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता।

भारतीय नागरिकता अधिनियम समय के साथ राजनीतिक बहसों का केंद्र भी बना। विशेष रूप से असम आंदोलन, बांग्लादेश से अवैध प्रवासन, राष्ट्रीय नागरिक पंजी (NRC) तथा नागरिकता संशोधन अधिनियम (CAA) जैसे मुद्दों ने नागरिकता के प्रश्न को अत्यंत संवेदनशील बना दिया।

आलोचकों का मत है कि नागरिकता संबंधी नीतियों को राष्ट्रीय सुरक्षा और मानवाधिकारों के बीच संतुलन स्थापित करना चाहिए। नागरिकता केवल कानूनी स्थिति नहीं, बल्कि पहचान, अधिकार और लोकतांत्रिक सदस्यता का प्रश्न भी है।

इस प्रकार नागरिकता अधिनियम, 1955 भारतीय राज्य की नागरिकता नीति का मूल आधार है। यह अधिनियम बदलती राजनीतिक, सामाजिक और अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार निरंतर विकसित होता रहा है और भारतीय लोकतंत्र की संरचना में केंद्रीय भूमिका निभाता है।

1.10 नागरिकता अधिनियम में प्रमुख संशोधन

भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 में समय-समय पर अनेक संशोधन किए गए। इन संशोधनों का उद्देश्य बदलती राजनीतिक परिस्थितियों, प्रवासन संबंधी चुनौतियों, राष्ट्रीय सुरक्षा और प्रवासी भारतीय समुदायों से संबंधित प्रश्नों का समाधान करना था।

1986 का संशोधन

1980 के दशक में विशेष रूप से असम आंदोलन और अवैध प्रवासन के प्रश्न ने भारतीय राजनीति को गहराई से प्रभावित किया। असम में बड़ी संख्या में बांग्लादेशी प्रवासियों के प्रवेश को लेकर व्यापक आंदोलन हुआ।

इसी पृष्ठभूमि में 1986 का संशोधन किया गया। इस संशोधन से पहले भारत में जन्म लेने वाला लगभग प्रत्येक व्यक्ति भारतीय नागरिक माना जाता था। किन्तु संशोधन के बाद यह आवश्यक कर दिया गया कि जन्म के आधार पर नागरिकता प्राप्त करने के लिए माता-पिता में से कम-से-कम एक भारतीय नागरिक हो।

यह परिवर्तन भारतीय नागरिकता नीति को अधिक नियंत्रित बनाने की दिशा में पहला बड़ा कदम माना जाता है।

1992 का संशोधन

1992 के संशोधन ने वंश द्वारा नागरिकता संबंधी प्रावधानों में परिवर्तन किया। पहले केवल पिता के माध्यम से नागरिकता के अधिकार को अधिक मान्यता प्राप्त थी, किन्तु संशोधन के बाद माता और पिता दोनों के माध्यम से नागरिकता प्राप्त करने की व्यवस्था को स्वीकार किया गया।

यह संशोधन लैंगिक समानता की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम माना गया।

2003 का संशोधन

2003 का संशोधन भारतीय नागरिकता व्यवस्था में अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस संशोधन के माध्यम से "अवैध प्रवासी" (Illegal Migrant) की अवधारणा को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया।

इसके अनुसार यदि किसी व्यक्ति के माता-पिता में से एक अवैध प्रवासी है, तो केवल भारत में जन्म लेने के आधार पर नागरिकता प्राप्त नहीं होगी।

इसी संशोधन के माध्यम से राष्ट्रीय नागरिक पंजी (National Register of Citizens – NRC) की अवधारणा को भी विधिक आधार प्राप्त हुआ।

इसके अतिरिक्त "Overseas Citizen of India" (OCI) की व्यवस्था भी इसी अवधि में विकसित हुई, जिसका उद्देश्य प्रवासी भारतीय समुदायों के साथ संबंध मजबूत करना था।

2005 का संशोधन

2005 के संशोधन ने OCI व्यवस्था को और स्पष्ट तथा विस्तृत बनाया। इसके माध्यम से भारतीय मूल के विदेशी नागरिकों को भारत से दीर्घकालिक संबंध बनाए रखने की सुविधा प्रदान की गई।

हालाँकि यह पूर्ण दोहरी नागरिकता नहीं थी, फिर भी इसे प्रवासी भारतीय नीति के महत्त्वपूर्ण हिस्से के रूप में देखा गया।

2015 का संशोधन

2015 में PIO (Person of Indian Origin) और OCI योजनाओं को एकीकृत कर दिया गया। इसका उद्देश्य प्रक्रियाओं को सरल बनाना तथा प्रवासी भारतीयों के लिए प्रशासनिक सुविधाएँ बढ़ाना था।

1.11 नागरिकता प्राप्ति एवं समाप्ति की प्रक्रिया

भारतीय नागरिकता केवल जन्म से प्राप्त होने वाली स्थिर विधिक स्थिति नहीं है, बल्कि यह एक ऐसी संवैधानिक और प्रशासनिक व्यवस्था है जिसके माध्यम से व्यक्ति राज्य का औपचारिक सदस्य बनता है। नागरिकता प्राप्त करने और समाप्त होने की प्रक्रियाएँ इस बात को स्पष्ट करती हैं कि आधुनिक राज्य नागरिकता को केवल भावनात्मक पहचान नहीं, बल्कि विधिक और राजनीतिक संबंध के रूप में देखते हैं। भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 नागरिकता प्राप्त करने की विभिन्न प्रक्रियाओं को निर्धारित करता है। इन प्रक्रियाओं का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि नागरिकता की व्यवस्था विधिक रूप से स्पष्ट, प्रशासनिक रूप से नियंत्रित तथा राष्ट्रीय हितों के अनुरूप हो।

जन्म द्वारा नागरिकता सबसे सामान्य प्रक्रिया मानी जाती है। प्रारंभिक वर्षों में भारत की नागरिकता व्यवस्था अपेक्षाकृत उदार थी और भारतीय भूमि पर जन्म लेने वाले अधिकांश व्यक्तियों को नागरिकता प्राप्त हो जाती थी। किन्तु बाद में अवैध प्रवासन और सीमा-संबंधी चुनौतियों के कारण जन्म-आधारित नागरिकता पर नियंत्रण स्थापित किया गया। आज केवल भारत में जन्म लेना पर्याप्त नहीं है, बल्कि माता-पिता की नागरिकता और वैध स्थिति भी महत्त्वपूर्ण शर्तें बन चुकी हैं।

वंश द्वारा नागरिकता का प्रावधान विशेष रूप से विदेशों में रहने वाले भारतीय मूल के व्यक्तियों के लिए महत्त्वपूर्ण है। यदि किसी बच्चे का जन्म विदेश में होता है और उसके माता-पिता भारतीय नागरिक हैं, तो वह निर्धारित शर्तों के अधीन भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकता है। यह व्यवस्था प्रवासी भारतीय समुदाय और भारतीय राज्य के बीच संबंध बनाए रखने में सहायक मानी जाती है। पंजीकरण द्वारा नागरिकता ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कुछ विशेष श्रेणी के व्यक्ति भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। भारतीय मूल के वे व्यक्ति जो लंबे समय से भारत में निवास कर रहे हों, अथवा भारतीय नागरिक से विवाह करने वाले विदेशी नागरिक, निर्धारित प्रक्रिया के अंतर्गत पंजीकरण द्वारा नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रक्रिया में सरकार व्यक्ति की पृष्ठभूमि, निवास अवधि और विधिक स्थिति का परीक्षण करती है।

प्राकृतिकीकरण (Naturalization) आधुनिक नागरिकता व्यवस्था का अत्यंत महत्त्वपूर्ण तत्व है। इसके अंतर्गत कोई विदेशी नागरिक निर्धारित अवधि तक भारत में निवास करने के बाद नागरिकता के लिए आवेदन कर सकता है। भारतीय कानून सामान्यतः यह अपेक्षा करता है कि आवेदक ने एक निश्चित अवधि तक भारत में निवास किया हो, वह संविधान के प्रति निष्ठा रखता हो तथा भारत में स्थायी रूप से बसने की इच्छा रखता हो। प्राकृतिकीकरण की प्रक्रिया यह दर्शाती है कि आधुनिक राष्ट्र-राज्य नागरिकता को केवल जन्म या वंश तक सीमित नहीं रखते। राज्य यह स्वीकार करते हैं कि प्रवासन और वैश्वीकरण के युग में व्यक्ति विभिन्न कारणों से नए राजनीतिक समुदायों का हिस्सा बन सकते हैं।

भारतीय नागरिकता व्यवस्था में क्षेत्र के भारत में विलय द्वारा नागरिकता प्राप्त करने का प्रावधान भी महत्त्वपूर्ण रहा है। स्वतंत्रता के बाद जब कुछ क्षेत्र भारत में सम्मिलित हुए, तब वहाँ के निवासियों को भारतीय नागरिकता प्रदान की गई। गोवा, दमन और दीव तथा पुदुच्चेरी जैसे क्षेत्रों के संदर्भ में यह व्यवस्था लागू हुई। जितनी महत्त्वपूर्ण नागरिकता प्राप्त करने की प्रक्रिया है, उतनी ही महत्त्वपूर्ण नागरिकता समाप्त होने की प्रक्रिया भी है। आधुनिक राज्य नागरिकता को अधिकारों और निष्ठा के संबंध के रूप में देखते हैं। इसी कारण यदि कोई व्यक्ति किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर ले, या राज्य के प्रति अपनी विधिक निष्ठा समाप्त कर दे, तो उसकी नागरिकता समाप्त की जा सकती है।

भारतीय नागरिकता तीन प्रमुख आधारों पर समाप्त हो सकती है: त्याग, समाप्ति और वंचन। यदि कोई व्यक्ति स्वेच्छा से अपनी भारतीय नागरिकता छोड़ना चाहता है, तो वह त्याग (Renunciation) के माध्यम से ऐसा कर सकता है। यह सामान्यतः उन परिस्थितियों में होता है जब व्यक्ति किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण करना चाहता है। भारत पूर्ण दोहरी नागरिकता की अनुमति नहीं देता। इसलिए यदि कोई भारतीय नागरिक स्वेच्छा से किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर लेता है, तो उसकी भारतीय नागरिकता सामान्यतः समाप्त हो जाती है। इसे समाप्ति (Termination) कहा जाता है।

वंचन (Deprivation) नागरिकता समाप्त करने की अधिक गंभीर प्रक्रिया है। यदि सरकार यह पाती है कि नागरिकता धोखाधड़ी, गलत सूचना या राष्ट्र-विरोधी गतिविधियों के आधार पर प्राप्त की गई थी, तो वह नागरिकता वापस ले सकती है। यह प्रक्रिया राज्य की संप्रभुता और राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़ी मानी जाती है।

समकालीन समय में नागरिकता और दस्तावेज़ीकरण का संबंध भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गया है। राष्ट्रीय नागरिक पंजी (NRC), पहचान-पत्र, जन्म प्रमाण-पत्र और प्रवासन से संबंधित दस्तावेज़ नागरिकता निर्धारण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आलोचकों का मत है कि अत्यधिक दस्तावेज़-आधारित नागरिकता व्यवस्था कई बार समाज के गरीब और हाशिए पर स्थित समुदायों के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न कर सकती है।

नागरिकता की प्रक्रिया केवल प्रशासनिक व्यवस्था नहीं है। यह राज्य, पहचान और लोकतांत्रिक सदस्यता के व्यापक प्रश्नों से भी जुड़ी हुई है। नागरिकता व्यक्ति को केवल कानूनी सुरक्षा नहीं देती, बल्कि उसे राजनीतिक समुदाय का सक्रिय सदस्य भी बनाती है। इसी कारण आधुनिक लोकतंत्रों में नागरिकता की प्रक्रिया को संवेदनशील, न्यायपूर्ण और समावेशी बनाए रखना अत्यंत आवश्यक माना जाता है।

1.12 नागरिकता, अधिकार एवं कर्तव्य

आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य (State) में नागरिकता का अर्थ केवल राज्य (State) की सदस्यता नहीं है। नागरिकता अधिकारों और कर्तव्यों के संतुलित संबंध पर आधारित अवधारणा है। नागरिक राज्य (State) से सुरक्षा, स्वतंत्रता और समानता की अपेक्षा करता है, जबकि राज्य (State) नागरिकों से विधि-पालन, संविधान के

प्रति निष्ठा और सार्वजनिक उत्तरदायित्व की अपेक्षा करता है। नागरिकता और अधिकारों का संबंध आधुनिक लोकतंत्र की आधारशिला माना जाता है। नागरिक अधिकार व्यक्ति की स्वतंत्रता और गरिमा की रक्षा करते हैं। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, धर्म की स्वतंत्रता, समानता का अधिकार और विधिक संरक्षण जैसे अधिकार नागरिकता को सार्थक बनाते हैं। यदि नागरिकों को केवल कानूनी सदस्यता प्राप्त हो लेकिन वास्तविक अधिकार न हों, तो नागरिकता औपचारिक और अधूरी रह जाएगी।

टी. एच. मार्शल ने नागरिकता को नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के विकास की प्रक्रिया के रूप में समझाया। नागरिक अधिकार व्यक्ति को विधिक सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। राजनीतिक अधिकार नागरिकों को शासन-प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर देते हैं, जबकि सामाजिक अधिकार शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा से जुड़े होते हैं। भारतीय संविधान नागरिकों को व्यापक मौलिक अधिकार प्रदान करता है। समानता का अधिकार, स्वतंत्रता का अधिकार, संवैधानिक उपचार का अधिकार तथा सांस्कृतिक और शैक्षिक अधिकार भारतीय लोकतंत्र की मूल विशेषताएँ हैं। ये अधिकार नागरिकों को राज्य की मनमानी से सुरक्षा प्रदान करते हैं और लोकतांत्रिक शासन को वैधता प्रदान करते हैं।

किन्तु नागरिकता केवल अधिकारों की व्यवस्था नहीं है। इसके साथ कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का भी संबंध है। लोकतंत्र तभी सफल हो सकता है जब नागरिक केवल अधिकारों की माँग न करें, बल्कि सार्वजनिक जीवन के प्रति उत्तरदायी भी हों।भारतीय संविधान में मूल कर्तव्यों (Fundamental Duties) को 42वें संविधान संशोधन, 1976 के माध्यम से जोड़ा गया। इन कर्तव्यों का उद्देश्य नागरिकों में संवैधानिक मूल्यों, राष्ट्रीय एकता और सार्वजनिक अनुशासन की भावना विकसित करना था। संविधान का सम्मान करना, राष्ट्रीय ध्वज और राष्ट्रगान का आदर करना, सार्वजनिक संपत्ति की रक्षा करना तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करना नागरिकों के प्रमुख कर्तव्यों में शामिल हैं।

लोकतांत्रिक नागरिकता का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सक्रिय सहभागिता भी है। मतदान करना, सार्वजनिक विमर्श में भाग लेना, सामाजिक उत्तरदायित्व निभाना और शासन को जवाबदेह बनाना सक्रिय नागरिकता की विशेषताएँ हैं। इसी कारण आधुनिक शासन-व्यवस्था में "participatory citizenship" अर्थात सहभागी नागरिकता की अवधारणा विकसित हुई है। समकालीन लोकतंत्रों में नागरिकता और अधिकारों का संबंध नई चुनौतियों का सामना कर रहा है। डिजिटल तकनीक, निगरानी व्यवस्था, डेटा-सुरक्षा और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे प्रश्न नागरिक अधिकारों की प्रकृति को प्रभावित कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त सामाजिक असमानता और आर्थिक विषमता जैसे कारक भी नागरिकता की वास्तविकता को प्रभावित करते हैं।

यदि समाज के कुछ वर्ग शिक्षा, स्वास्थ्य और अवसरों से वंचित रहें, तो औपचारिक नागरिकता के बावजूद वे लोकतांत्रिक प्रक्रिया में समान रूप से भाग नहीं ले सकते। इसी कारण आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में सामाजिक न्याय और समावेशी नागरिकता पर विशेष बल दिया जाता है।

इस प्रकार नागरिकता अधिकारों और कर्तव्यों का संतुलित संबंध है। यह केवल कानूनी सदस्यता नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संस्कृति, सार्वजनिक उत्तरदायित्व और सक्रिय राजनीतिक सहभागिता की व्यापक अवधारणा है।

1.13 समकालीन संदर्भ : नागरिकता, प्रवासन और पहचान की राजनीति

इक्कीसवीं शताब्दी में नागरिकता का प्रश्न केवल विधिक सदस्यता का विषय नहीं रह गया है। वैश्वीकरण, अंतरराष्ट्रीय प्रवासन, शरणार्थी संकट, सीमा-सुरक्षा, सांस्कृतिक पहचान और मानवाधिकारों की बहसों ने नागरिकता की पारंपरिक अवधारणा को अत्यंत जटिल बना दिया है। आधुनिक राज्य (State) अब केवल अपने

नागरिकों और सीमाओं के प्रशासन तक सीमित नहीं हैं, बल्कि उन्हें प्रवासी समुदायों, विस्थापित जनसमूहों और बहुसांस्कृतिक समाजों से संबंधित प्रश्नों का भी सामना करना पड़ता है।

राजनीतिक सिद्धांत में नागरिकता को लंबे समय तक राष्ट्र-राज्य की सीमाओं के भीतर समझा जाता रहा। किन्तु वैश्वीकरण के बाद लोगों, पूँजी, श्रम और सूचनाओं की तीव्र गतिशीलता ने इस पारंपरिक ढाँचे को चुनौती दी। बड़ी संख्या में लोग शिक्षा, रोजगार, युद्ध, जलवायु परिवर्तन और आर्थिक अवसरों के कारण एक देश से दूसरे देश में प्रवास कर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में नागरिकता केवल जन्म या वंश का प्रश्न नहीं रह जाती, बल्कि यह सामाजिक समावेशन, मानवाधिकार और राजनीतिक पहचान से भी जुड़ जाती है।

समकालीन विश्व में प्रवासन की समस्या विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। संयुक्त राष्ट्र और विश्व बैंक की विभिन्न रिपोर्टों में यह स्पष्ट किया गया है कि आधुनिक वैश्विक अर्थव्यवस्था में प्रवासी श्रमिकों की भूमिका निरंतर बढ़ रही है। किन्तु प्रवासन के साथ नागरिकता, सांस्कृतिक पहचान और राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े प्रश्न भी उत्पन्न होते हैं।

यूरोप और अमेरिका जैसे क्षेत्रों में प्रवासी समुदायों की बढ़ती संख्या ने नागरिकता की प्रकृति पर नई बहसें उत्पन्न की हैं। एक ओर उदारवादी दृष्टिकोण नागरिकता को समावेशी बनाने पर बल देता है, वहीं दूसरी ओर राष्ट्रवादी राजनीति कई बार सांस्कृतिक पहचान और सीमाओं की सुरक्षा पर अधिक ज़ोर देती है। इसी कारण अनेक देशों में प्रवासन और नागरिकता से संबंधित नीतियाँ राजनीतिक विवाद का विषय बन गई हैं।

भारतीय संदर्भ में भी नागरिकता और प्रवासन का प्रश्न अत्यंत संवेदनशील रहा है। विभाजन के समय बड़े पैमाने पर जनसंख्या का विस्थापन हुआ था। इसके बाद भी भारत ने विभिन्न समयों पर शरणार्थियों और प्रवासी समुदायों का सामना किया, जिनमें तिब्बती शरणार्थी, श्रीलंकाई तमिल शरणार्थी तथा बांग्लादेश से आए प्रवासी शामिल हैं।

विशेष रूप से असम और पूर्वोत्तर भारत में अवैध प्रवासन का प्रश्न लंबे समय तक राजनीतिक आंदोलन का आधार बना रहा। असम आंदोलन (1979–1985) मुख्यतः अवैध प्रवासियों की पहचान और नागरिकता से संबंधित प्रश्नों पर केंद्रित था। इसके परिणामस्वरूप असम समझौता (Assam Accord, 1985) हुआ, जिसने नागरिकता और दस्तावेज़ीकरण के प्रश्न को राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। नागरिकता संशोधन अधिनियम, 2019 तथा राष्ट्रीय नागरिक पंजी (NRC) के संदर्भ में भी नागरिकता व्यापक सार्वजनिक बहस का विषय बनी। यह बहस केवल विधिक प्रश्न नहीं थी। इसके भीतर राष्ट्रीय पहचान, धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और मानवाधिकारों से जुड़े व्यापक प्रश्न उपस्थित थे। आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में नागरिकता का प्रश्न इसी कारण अत्यंत संवेदनशील माना जाता है क्योंकि यह राज्य (State) की प्रकृति और राष्ट्र (Nation) की अवधारणा से सीधे जुड़ा हुआ है।

समकालीन समय में पहचान की राजनीति (Identity Politics) ने भी नागरिकता की अवधारणा को प्रभावित किया है। भाषा, धर्म, जाति, नस्ल और सांस्कृतिक पहचान के आधार पर विभिन्न समूह अपनी विशिष्ट मान्यता और अधिकारों की माँग करते हैं। विल किमलिका जैसे बहुसांस्कृतिक विचारकों ने यह तर्क दिया कि आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य (State) को सांस्कृतिक विविधताओं को स्वीकार करना चाहिए और अल्पसंख्यक समुदायों के अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए।

भारतीय लोकतंत्र में भी नागरिकता केवल संवैधानिक सदस्यता नहीं, बल्कि सामाजिक पहचान और प्रतिनिधित्व से जुड़ी हुई है। जाति, भाषा, क्षेत्रीयता और धर्म कई बार राजनीतिक सहभागिता और नागरिक अनुभवों को प्रभावित करते हैं। इसी कारण भारतीय लोकतंत्र में समान नागरिकता और सामाजिक विविधता के बीच संतुलन बनाए रखना अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।डिजिटल तकनीक और ई-शासन के विस्तार ने भी नागरिकता की

प्रकृति को परिवर्तित किया है। आधार, डिजिटल पहचान, ऑनलाइन सेवाएँ और इलेक्ट्रॉनिक दस्तावेज़ीकरण ने राज्य और नागरिक के संबंध को अधिक तकनीकी और प्रशासनिक बना दिया है। इससे शासन की दक्षता बढ़ी है, किन्तु साथ ही निजता (Privacy), निगरानी (Surveillance) और डेटा-सुरक्षा जैसे नए प्रश्न भी उत्पन्न हुए हैं।

समकालीन नागरिकता का एक महत्त्वपूर्ण पहलू "सक्रिय नागरिकता" (Active Citizenship) भी है। आधुनिक लोकतंत्र केवल मतदान तक सीमित नहीं रह गया है। नागरिक अब सामाजिक आंदोलनों, डिजिटल अभियानों, सार्वजनिक विमर्श और जनहित याचिकाओं के माध्यम से शासन को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार नागरिकता लोकतांत्रिक भागीदारी की निरंतर प्रक्रिया बनती जा रही है। इस प्रकार समकालीन समय में नागरिकता बहुआयामी अवधारणा बन चुकी है। यह केवल कानूनी सदस्यता नहीं, बल्कि प्रवासन, पहचान, मानवाधिकार, लोकतांत्रिक सहभागिता और राज्य की वैधता से जुड़ी हुई जटिल राजनीतिक प्रक्रिया है। आधुनिक लोकतंत्रों के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे राष्ट्रीय सुरक्षा, सांस्कृतिक पहचान और लोकतांत्रिक समावेशन के बीच संतुलन कैसे स्थापित करें।

1.14 आलोचनात्मक विमर्श एवं चुनौतियाँ

नागरिकता आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य की आधारभूत अवधारणा मानी जाती है, किन्तु यह अवधारणा अनेक आलोचनाओं और चुनौतियों से भी घिरी हुई है। राजनीतिक सिद्धांतकारों ने यह प्रश्न उठाया है कि क्या आधुनिक नागरिकता वास्तव में सभी व्यक्तियों को समान अधिकार और अवसर प्रदान करती है, या फिर यह सामाजिक और आर्थिक असमानताओं से प्रभावित होती है।

उदारवादी नागरिकता की सबसे प्रमुख आलोचना यह है कि यह औपचारिक समानता पर अत्यधिक बल देती है, जबकि वास्तविक सामाजिक और आर्थिक असमानताओं की उपेक्षा करती है। मार्क्सवादी विचारकों ने तर्क दिया कि केवल राजनीतिक अधिकार पर्याप्त नहीं हैं। यदि समाज में आर्थिक विषमता बनी रहे, तो नागरिकता वास्तविक समानता स्थापित नहीं कर सकती।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार पूँजीवादी समाज में नागरिकता कई बार केवल औपचारिक अधिकारों तक सीमित रह जाती है क्योंकि आर्थिक शक्ति सीमित वर्गों के हाथों में केंद्रित रहती है। इस प्रकार सभी नागरिक कानूनी रूप से समान होने के बावजूद वास्तविक सामाजिक प्रभाव और अवसरों में असमान बने रहते हैं।

नारीवादी विचारकों ने भी पारंपरिक नागरिकता सिद्धांत की आलोचना की। उनका तर्क था कि लंबे समय तक नागरिकता की अवधारणा पुरुष-केंद्रित रही। महिलाओं को मतदान, संपत्ति और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे अधिकार बहुत देर से प्राप्त हुए। इसी कारण नारीवादी सिद्धांत नागरिकता को लैंगिक समानता और प्रतिनिधित्व के संदर्भ में पुनर्परिभाषित करता है।

बहुसांस्कृतिक समाजों में नागरिकता की एक अन्य चुनौती सांस्कृतिक विविधता का प्रश्न है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य अक्सर समान नागरिकता पर बल देते हैं, किन्तु विभिन्न भाषाई, धार्मिक और सांस्कृतिक समुदाय अपनी विशिष्ट पहचान की मान्यता भी चाहते हैं। विल किमलिका जैसे विद्वानों ने यह तर्क दिया कि आधुनिक लोकतंत्रों को केवल समान अधिकार ही नहीं, बल्कि सांस्कृतिक अधिकारों की भी रक्षा करनी चाहिए।

वैश्वीकरण ने नागरिकता की पारंपरिक अवधारणा को और जटिल बना दिया है। बड़ी संख्या में लोग ऐसे देशों में रहते और कार्य करते हैं जहाँ वे पूर्ण नागरिक नहीं होते। प्रवासी श्रमिक, शरणार्थी और विस्थापित समुदाय कई बार अधिकारों और सुरक्षा से वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार आधुनिक विश्व में नागरिकता और मानवाधिकार के बीच संबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गया है।

भारतीय संदर्भ में नागरिकता की सबसे बड़ी चुनौतियों में से एक सामाजिक असमानता है। संविधान समान नागरिकता की व्यवस्था प्रदान करता है, किन्तु जाति, गरीबी, अशिक्षा और सामाजिक बहिष्कार कई बार नागरिक अधिकारों के वास्तविक उपयोग को प्रभावित करते हैं। समाज के कमजोर वर्ग औपचारिक रूप से नागरिक होने के बावजूद शासन-प्रक्रिया में समान रूप से भाग नहीं ले पाते।

दस्तावेज़ीकरण और पहचान का प्रश्न भी आधुनिक नागरिकता की महत्त्वपूर्ण चुनौती बन गया है। गरीब, प्रवासी और हाशिए पर स्थित समुदायों के पास कई बार आवश्यक दस्तावेज़ नहीं होते, जिसके कारण वे नागरिकता और कल्याणकारी योजनाओं तक पहुँच में कठिनाइयों का सामना करते हैं।

डिजिटल शासन ने नागरिकता की प्रक्रिया को अधिक तकनीकी अवश्य बनाया है, किन्तु इसके साथ निजता और निगरानी संबंधी प्रश्न भी उत्पन्न हुए हैं। आधुनिक राज्य नागरिकों के डेटा और पहचान से संबंधित विशाल सूचनात्मक संरचनाओं का निर्माण कर रहे हैं। इससे प्रशासनिक दक्षता बढ़ती है, किन्तु नागरिक स्वतंत्रता और डेटा-सुरक्षा को लेकर चिंताएँ भी उत्पन्न होती हैं।

इसके अतिरिक्त नागरिकता और राष्ट्रवाद के संबंध को लेकर भी बहस जारी है। कुछ राष्ट्रवादी दृष्टिकोण नागरिकता को सांस्कृतिक या धार्मिक पहचान से जोड़ने का प्रयास करते हैं, जबकि संवैधानिक लोकतंत्र नागरिकता को समान राजनीतिक सदस्यता के रूप में देखता है। यही तनाव आधुनिक लोकतांत्रिक राजनीति की सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौतियों में से एक है। इन आलोचनाओं और चुनौतियों के बावजूद नागरिकता आधुनिक लोकतंत्र की केंद्रीय अवधारणा बनी हुई है। नागरिकता व्यक्ति को अधिकार, सुरक्षा और राजनीतिक पहचान प्रदान करती है। साथ ही यह लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व, सार्वजनिक सहभागिता और संवैधानिक मूल्यों की भी आधारशिला है।

इस प्रकार नागरिकता की अवधारणा निरंतर विकसित हो रही है। आधुनिक समाजों में नागरिकता को केवल विधिक सदस्यता के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, मानवाधिकार, लोकतांत्रिक सहभागिता और समावेशी शासन की व्यापक प्रक्रिया के रूप में समझना आवश्यक है।

1.15 तुलनात्मक सारणी

आधार	**जुस सोली (Jus Soli)**	**जुस सैंग्विनिस (Jus Sanguinis)**
शाब्दिक अर्थ	भूमि का अधिकार	रक्त का अधिकार
नागरिकता का आधार	जन्म-स्थान	वंश अथवा माता-पिता की नागरिकता
प्रमुख सिद्धांत	राज्य की सीमा में जन्म लेने वाला व्यक्ति नागरिक हो सकता है	नागरिकता पारिवारिक और वंशीय संबंधों से निर्धारित होती है।
प्रकृति	अपेक्षाकृत उदार और समावेशी	अपेक्षाकृत सांस्कृतिक एवं वंश-आधारित
राष्ट्र की अवधारणा	राजनीतिक एवं संवैधानिक समुदाय	सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक समुदाय

प्रमुख उद्देश्य	सामाजिक समावेशन और राष्ट्रीय एकीकरण	सांस्कृतिक निरंतरता और राष्ट्रीय पहचान की रक्षा
प्रवासी समुदायों पर प्रभाव	प्रवासी समुदायों को समाविष्ट करने में सहायक	प्रवासी समुदायों को मूल राष्ट्र से जोड़कर रखता है
संभावित लाभ	राज्यविहीनता कम करने में सहायक	राष्ट्रीय पहचान को स्थिर बनाए रखने में सहायक
प्रमुख आलोचना	अवैध प्रवासन और "birth tourism" की आशंका	सामाजिक बहिष्कार और सीमित समावेशन की संभावना
प्रमुख उदाहरण	अमेरिका, कनाडा	जर्मनी (परंपरागत रूप में), इटली
भारतीय संदर्भ	प्रारंभिक नागरिकता व्यवस्था में प्रभाव	बाद के संशोधनों में प्रभाव अधिक स्पष्ट

1.16 अभ्यास प्रश्न

1. नागरिकता की अवधारणा का अर्थ एवं विकास स्पष्ट कीजिए।
2. टी. एच. मार्शल के नागरिकता संबंधी सिद्धांत का विश्लेषण कीजिए।
3. आधुनिक लोकतंत्र में नागरिकता के राजनीतिक और सामाजिक आयामों की व्याख्या कीजिए।
4. जुस सोली (Jus Soli) और जुस सैंग्विनिस (Jus Sanguinis) नामक सिद्धांतों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
5. भारतीय संविधान में नागरिकता संबंधी प्रावधानों का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
6. भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 की प्रमुख विशेषताओं का विवेचन कीजिए।
7. नागरिकता अधिनियम में किए गए प्रमुख संशोधनों का विश्लेषण कीजिए।
8. नागरिकता, अधिकार और कर्तव्य के संबंध का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
9. वैश्वीकरण और प्रवासन ने नागरिकता की अवधारणा को किस प्रकार प्रभावित किया है?
10. समकालीन भारत में नागरिकता और पहचान-राजनीति के प्रश्नों पर चर्चा कीजिए।

1.17 संदर्भ-सूची

- अल्मंड, गैब्रियल एवं वर्बा, सिडनी. (1963). *द सिविक कल्चर : पॉलिटिकल एटिट्यूड्स एंड डेमोक्रेसी इन फाइव नेशन्स* (*The Civic Culture: Political Attitudes and Democracy in Five Nations*). प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
- करी, बॉब. (1996). "गवर्नेंस, डेमोक्रेसी एंड इकोनॉमिक एडजस्टमेंट इन इंडिया : कॉन्सेप्चुअल एंड एम्पिरिकल प्रॉब्लम्स" (*Governance, Democracy and Economic Adjustment in India:*

Conceptual and Empirical Problems). *थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली* (*Third World Quarterly*), 17(4), 787–807।

- केपिंग, यू. (2018). "गवर्नेंस एंड गुड गवर्नेंस : ए न्यू फ्रेमवर्क फॉर पॉलिटिकल एनालिसिस" (*Governance and Good Governance: A New Framework for Political Analysis*). *फुदान जर्नल ऑफ द ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंसेज़* (*Fudan Journal of the Humanities and Social Sciences*), 11(1), 1–8।
- फ्रेडरिक्सन, एच. जॉर्ज एवं अन्य. (2015). *थियरीज़ ऑफ गवर्नेंस इन द पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन थ्योरी प्राइमर* (*Theories of Governance in The Public Administration Theory Primer*). बोल्डर: वेस्टव्यू प्रेस।
- लेफ्टविच, एड्रियन. (1993). "गवर्नेंस, डेमोक्रेसी एंड डेवलपमेंट इन द थर्ड वर्ल्ड" (*Governance, Democracy and Development in the Third World*). *थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली* (*Third World Quarterly*), 14(3), 605–624।
- लेफ्टविच, एड्रियन. (1994). "गवर्नेंस, द स्टेट एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपमेंट" (*Governance, the State and the Politics of Development*). *डेवलपमेंट एंड चेंज* (*Development and Change*), 25(2), 363–386।
- मार्शल, टी. एच. (1950). *सिटिज़नशिप एंड सोशल क्लास* (*Citizenship and Social Class*). कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
- रागी, एस. के. (2019). *सिटिज़नशिप एंड गवर्नेंस* (*Citizenship and Governance*). नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट।
- सिंह, ए. पी. एवं मुरारी, के. (2018). *गवर्नेंस : इश्यूज़ एंड चैलेंजेज* (*Governance: Issues and Challenges*). नई दिल्ली: पियर्सन।
- वर्ल्ड बैंक. (2017). *वर्ल्ड डेवलपमेंट रिपोर्ट : गवर्नेंस एंड द लॉ* (*World Development Report: Governance and the Law*). वाशिंगटन डी.सी.: वर्ल्ड बैंक।

शासन (Governance)

संरचना

2.1 अधिगम उद्देश्य

2.2 प्रस्तावना

2.3 शासन : अर्थ, अवधारणा एवं प्रकृति

2.4 शासन और सरकार में अंतर

2.5 शासन के प्रमुख मॉडल एवं सिद्धांत

2.6 लोकतंत्र और शासन का संबंध

2.7 सुशासन (Good Governance): अर्थ एवं विशेषताएँ

2.8 भारत में सुशासन : चुनौतियाँ एवं संभावनाएँ

2.9 ई-शासन (E-Governance) : अवधारणा एवं विकास

2.10 भारत में ई-शासन की प्रमुख पहलें

2.11 ई-शासन : उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ

2.12 शासन, नागरिक सहभागिता एवं उत्तरदायित्व

2.13 समकालीन संदर्भ एवं आलोचनात्मक विमर्श

2.14 तुलनात्मक सारणी

2.15 अभ्यास प्रश्न

2.16 संदर्भ-सूची

2.1 अधिगम उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी–

- सरकार और शासन की अवधारणाओं के मध्य अंतर स्पष्ट कर पाएँगे।
- शासन के प्रमुख तत्त्वों और लोकतांत्रिक शासन की विशेषताओं की व्याख्या कर पाएँगे।
- सुशासन, पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और जनसहभागिता के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण कर पाएँगे।
- ई-शासन की प्रकृति, उपयोगिता और प्रमुख चुनौतियों को समझ पाएँगे।
- समकालीन भारत में शासन-सुधारों की आवश्यकता और प्रभाव का मूल्यांकन कर पाएँगे।

2.2 प्रस्तावना

आधुनिक राजनीतिक विज्ञान और लोक प्रशासन में "शासन" (Governance) की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन चुकी है। पारंपरिक रूप से राज्य और सरकार को प्रशासन तथा निर्णय-निर्माण का मुख्य केंद्र माना जाता था, किन्तु वैश्वीकरण, उदारीकरण, तकनीकी विकास और नागरिक सहभागिता के विस्तार ने शासन की प्रकृति को व्यापक रूप से परिवर्तित किया है। अब शासन केवल सरकार की गतिविधि नहीं माना जाता, बल्कि यह राज्य, बाजार, नागरिक समाज और नागरिकों के मध्य सहयोग, समन्वय और सहभागिता की प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में शासन की अवधारणा विशेष रूप से लोकप्रिय हुई। विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं ने विकास, पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और प्रशासनिक दक्षता के संदर्भ में "सुशासन" (Good Governance) की अवधारणा को प्रमुखता दी। यह माना जाने लगा कि केवल आर्थिक विकास पर्याप्त नहीं है; प्रभावी प्रशासन, विधि का शासन, नागरिक सहभागिता और पारदर्शिता भी लोकतांत्रिक विकास के लिए आवश्यक हैं। शासन की अवधारणा का विस्तार इस कारण भी हुआ क्योंकि आधुनिक समाज अत्यंत जटिल हो चुके हैं। सरकार अकेले सभी सामाजिक, आर्थिक और प्रशासनिक समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। सार्वजनिक नीति के निर्माण और क्रियान्वयन में अब निजी क्षेत्र, गैर-सरकारी संगठन, मीडिया, अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ और नागरिक समूह भी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

भारतीय संदर्भ में शासन की अवधारणा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारत एक विशाल लोकतांत्रिक और बहुलतावादी समाज है। यहाँ प्रशासनिक दक्षता, सामाजिक न्याय, पारदर्शिता और नागरिक सहभागिता लोकतांत्रिक शासन की सफलता के लिए आवश्यक माने जाते हैं। सूचना का अधिकार अधिनियम (RTI), ई-गवर्नेंस, सामाजिक अंकेक्षण, डिजिटल इंडिया और नागरिक सेवा सुधार जैसे प्रयास शासन को अधिक उत्तरदायी और पारदर्शी बनाने की दिशा में उठाए गए महत्त्वपूर्ण कदम हैं। समकालीन समय में शासन का प्रश्न केवल प्रशासनिक दक्षता तक सीमित नहीं है। यह लोकतंत्र, विकास, अधिकार, नागरिक सहभागिता और सामाजिक उत्तरदायित्व से भी जुड़ा हुआ है। इसी कारण आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में शासन को राज्य और समाज के संबंधों की व्यापक प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है।

2.3 शासन : अर्थ, अवधारणा एवं प्रकृति

"शासन" (Governance) शब्द का प्रयोग सामान्यतः निर्णय-निर्माण, प्रशासन और सार्वजनिक कार्यों के संचालन की प्रक्रिया को व्यक्त करने के लिए किया जाता है। परंतु आधुनिक राजनीतिक विज्ञान में शासन की अवधारणा "सरकार" (Government) की पारंपरिक अवधारणा से कहीं अधिक व्यापक मानी जाती है। सरकार मुख्यतः औपचारिक संस्थाओं, विधिक अधिकारों और प्रशासनिक संरचनाओं से संबंधित होती है, जबकि शासन उन समस्त प्रक्रियाओं, संस्थाओं और संबंधों को सम्मिलित करता है जिनके माध्यम से सार्वजनिक निर्णय लिए जाते हैं और लागू किए जाते हैं।

एड्रियन लेफ्टविच ने अपने प्रसिद्ध लेख **'गवर्नेंस, द स्टेट एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपमेंट' (*Governance, the State and the Politics of Development*)** में शासन को राजनीतिक और प्रशासनिक शक्ति के प्रयोग की प्रक्रिया के रूप में समझाया। उनके अनुसार शासन केवल राज्य की गतिविधि नहीं है, बल्कि वह समस्त संरचनाएँ और प्रक्रियाएँ हैं जिनके माध्यम से समाज का प्रबंधन किया जाता है। विश्व बैंक ने शासन को उस प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जिसके माध्यम से किसी देश में आर्थिक और सामाजिक

संसाधनों का प्रबंधन किया जाता है। इस दृष्टिकोण में प्रशासनिक दक्षता, उत्तरदायित्व और विकास पर विशेष बल दिया गया।

आधुनिक शासन की अवधारणा में तीन प्रमुख तत्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं–

- राज्य (State)
- बाजार (Market)
- नागरिक समाज (Civil Society)

इन तीनों के मध्य समन्वय और सहभागिता शासन की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। आधुनिक शासन केवल ऊपर से नीचे (Top to down) नियंत्रण की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह बहुस्तरीय और सहभागितामूलक प्रक्रिया बन चुकी है।

शासन की प्रकृति को समझने के लिए उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर ध्यान देना आवश्यक है। शासन मूलतः प्रक्रिया-आधारित अवधारणा है। यह केवल संस्थाओं का अस्तित्व नहीं, बल्कि उनके कार्य करने की पद्धति को भी व्यक्त करता है। शासन का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व उत्तरदायित्व (Accountability) है। लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार और प्रशासन नागरिकों के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यदि शासन में उत्तरदायित्व नहीं होगा, तो प्रशासनिक भ्रष्टाचार और शक्ति के दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाएगी।

तीसरी विशेषता पारदर्शिता (Transparency) है। आधुनिक लोकतंत्रों में यह अपेक्षा की जाती है कि प्रशासनिक निर्णय खुले, स्पष्ट और सार्वजनिक निगरानी के अधीन हों। सूचना का अधिकार अधिनियम इसी सिद्धांत को मजबूत करने का प्रयास करता है। शासन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता नागरिक सहभागिता (Participation) है। लोकतांत्रिक शासन केवल चुनाव तक सीमित नहीं माना जाता। नागरिकों की सक्रिय भागीदारी, जनसुनवाई, सामाजिक अंकेक्षण और सार्वजनिक विमर्श शासन को अधिक वैध और प्रभावी बनाते हैं।

आधुनिक शासन विधि के शासन (Rule of Law) पर भी आधारित होता है। इसका अर्थ है कि सभी व्यक्ति और संस्थाएँ विधि के अधीन हैं तथा प्रशासनिक निर्णय मनमाने ढंग से नहीं लिए जा सकते। समकालीन समय में शासन की अवधारणा वैश्वीकरण से भी प्रभावित हुई है। अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ, बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और वैश्विक आर्थिक नीतियाँ राष्ट्रीय शासन-व्यवस्था को प्रभावित करती हैं। इस कारण शासन अब केवल राष्ट्रीय सीमाओं तक सीमित नहीं रह गया है।

भारतीय संदर्भ में शासन की अवधारणा का संबंध विकास प्रशासन, लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व और नागरिक अधिकारों से गहराई से जुड़ा हुआ है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय राज्य ने कल्याणकारी शासन (Welfare Governance) की दिशा में कार्य किया। शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण विकास और सामाजिक न्याय से संबंधित नीतियाँ इसी दृष्टिकोण का परिणाम थीं। किन्तु समय के साथ प्रशासनिक भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, संसाधनों की असमानता और नीति-क्रियान्वयन की समस्याओं ने शासन की गुणवत्ता पर प्रश्न उठाए। इसी कारण सुशासन, पारदर्शिता और प्रशासनिक सुधार की अवधारणाएँ अधिक महत्त्वपूर्ण बनती गईं।

इस प्रकार शासन आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था की बहुआयामी अवधारणा है। यह केवल सरकार की गतिविधियों तक सीमित नहीं, बल्कि राज्य, समाज और नागरिकों के मध्य स्थापित व्यापक संबंधों और प्रक्रियाओं का समुच्चय है।

2.4 शासन और सरकार में अंतर

सामान्य राजनीतिक विमर्श में "शासन" (Governance) और "सरकार" (Government) शब्दों का प्रयोग कई बार एक-दूसरे के स्थान पर कर दिया जाता है, किन्तु राजनीतिक विज्ञान और लोक प्रशासन में दोनों की अवधारणाएँ भिन्न मानी जाती हैं। आधुनिक शासन-सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य इसी अंतर को स्पष्ट करना रहा है। सरकार मुख्यतः औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं और प्रशासनिक संरचनाओं से संबंधित होती है। इसमें विधायिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका, नौकरशाही और अन्य संवैधानिक संस्थाएँ सम्मिलित होती हैं। सरकार के पास विधिक अधिकार, दंडात्मक शक्ति और सार्वजनिक नीतियों को लागू करने की वैधानिक क्षमता होती है।

इसके विपरीत शासन एक व्यापक अवधारणा है। शासन केवल सरकारी संस्थाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि उसमें वे सभी प्रक्रियाएँ और तंत्र सम्मिलित होते हैं जिनके माध्यम से समाज का प्रबंधन और सार्वजनिक निर्णयों का क्रियान्वयन किया जाता है। आधुनिक शासन में निजी क्षेत्र, गैर-सरकारी संगठन, नागरिक समाज, मीडिया, अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ और नागरिक समूह भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

अर्थात सरकार शासन का एक अंग है, जबकि शासन उससे कहीं अधिक व्यापक प्रक्रिया है। सरकार औपचारिक सत्ता-संरचना को व्यक्त करती है, जबकि शासन निर्णय-निर्माण और नीति-क्रियान्वयन की समग्र प्रक्रिया को। पारंपरिक राज्य-व्यवस्था में यह माना जाता था कि सार्वजनिक नीति और प्रशासन का मुख्य केंद्र सरकार ही है। किन्तु वैश्वीकरण, उदारीकरण और तकनीकी विकास के बाद यह स्पष्ट हुआ कि सरकार अकेले समाज की जटिल समस्याओं का समाधान नहीं कर सकती। इसी कारण शासन की अवधारणा विकसित हुई जिसमें विभिन्न सामाजिक और आर्थिक शक्तियों के बीच सहयोग और सहभागिता पर बल दिया गया।

शासन और सरकार के बीच एक महत्त्वपूर्ण अंतर शक्ति के स्वरूप से भी संबंधित है। सरकार के पास औपचारिक और विधिक शक्ति होती है। वह कानून बना सकती है, कर लगा सकती है और दंडात्मक कार्रवाई कर सकती है। शासन में शक्ति का स्वरूप अधिक विकेंद्रित और नेटवर्क-आधारित होता है। यहाँ विभिन्न संस्थाएँ, समूह और हितधारक नीति-निर्माण की प्रक्रिया में भाग लेते हैं। उदाहरण के लिए पर्यावरण संरक्षण की नीति केवल सरकार द्वारा निर्धारित नहीं होती। इसमें न्यायपालिका, पर्यावरण संगठन, मीडिया, वैज्ञानिक संस्थाएँ और स्थानीय समुदाय भी भूमिका निभाते हैं। यह शासन की व्यापक अवधारणा को दर्शाता है।

शासन और सरकार के बीच एक अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर उत्तरदायित्व की प्रकृति में दिखाई देता है। सरकार मुख्यतः संवैधानिक और विधिक उत्तरदायित्व के आधार पर कार्य करती है, जबकि शासन में सामाजिक उत्तरदायित्व, सार्वजनिक सहभागिता और पारदर्शिता को भी महत्त्व दिया जाता है। आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह माना जाता है कि केवल सरकारी नियंत्रण पर्याप्त नहीं है। यदि नागरिकों की भागीदारी और सार्वजनिक निगरानी नहीं होगी, तो शासन प्रभावी और उत्तरदायी नहीं बन सकेगा। इसी कारण नागरिक समाज और सार्वजनिक विमर्श को शासन का महत्त्वपूर्ण तत्व माना जाता है।

तकनीकी विकास ने भी शासन और सरकार के अंतर को और स्पष्ट किया है। ई-गवर्नेंस, डिजिटल प्रशासन और ऑनलाइन सेवाओं ने शासन को अधिक सहभागी और विकेंद्रित बनाया है। अब नागरिक केवल प्रशासनिक आदेशों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता नहीं हैं, बल्कि वे सूचना, शिकायत और जनभागीदारी के माध्यम से शासन-प्रक्रिया को प्रभावित कर सकते हैं। भारतीय संदर्भ में भी शासन और सरकार के बीच अंतर को समझना अत्यंत आवश्यक है। भारत में लंबे समय तक प्रशासनिक व्यवस्था अत्यधिक केंद्रीकृत और नौकरशाही-प्रधान रही। किन्तु लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण, पंचायती राज संस्थाओं, सूचना के अधिकार, सामाजिक अंकेक्षण और डिजिटल

प्रशासन ने शासन की अवधारणा को अधिक व्यापक और सहभागी बनाया। इस प्रकार सरकार और शासन परस्पर संबंधित होते हुए भी अलग अवधारणाएँ हैं। सरकार औपचारिक राजनीतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है, जबकि शासन समाज के प्रबंधन की व्यापक और बहुस्तरीय प्रक्रिया है। आधुनिक लोकतंत्रों में प्रभावी शासन के लिए केवल सक्षम सरकार पर्याप्त नहीं मानी जाती; नागरिक सहभागिता, पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और संस्थागत सहयोग भी समान रूप से आवश्यक माने जाते हैं।

2.5 शासन के प्रमुख मॉडल एवं सिद्धांत

आधुनिक राजनीतिक विज्ञान और लोक प्रशासन में शासन को समझने के लिए विभिन्न मॉडल और सिद्धांत विकसित किए गए हैं। ये सिद्धांत इस बात की व्याख्या करते हैं कि राज्य, समाज और संस्थाएँ किस प्रकार सार्वजनिक निर्णयों का निर्माण और क्रियान्वयन करती हैं। शासन के बदलते स्वरूप को समझने के लिए इन सिद्धांतों का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। पारंपरिक प्रशासनिक मॉडल (Traditional Bureaucratic Model) शासन की सबसे पुरानी अवधारणाओं में से एक है। यह मॉडल मैक्स वेबर की नौकरशाही संबंधी अवधारणा से प्रभावित था। इसमें शासन को नियम-आधारित, पदानुक्रमित और केंद्रीकृत प्रशासनिक प्रक्रिया के रूप में देखा गया।

इस मॉडल में सरकार और नौकरशाही को नीति-निर्माण और क्रियान्वयन का मुख्य केंद्र माना जाता था। प्रशासनिक दक्षता, अनुशासन और औपचारिक नियम इसकी प्रमुख विशेषताएँ थीं।

किन्तु समय के साथ इस मॉडल की आलोचना होने लगी। आलोचकों का मत था कि अत्यधिक केंद्रीकरण और लालफीताशाही प्रशासन को धीमा और अनुत्तरदायी बना देते हैं। नागरिकों की भागीदारी भी सीमित रह जाती है। इसी पृष्ठभूमि में "न्यू पब्लिक मैनेजमेंट" (New Public Management – NPM) की अवधारणा विकसित हुई। 1980 और 1990 के दशक में विशेष रूप से ब्रिटेन और अमेरिका में इस मॉडल को महत्त्व मिला।

न्यू पब्लिक मैनेजमेंट का उद्देश्य प्रशासन को अधिक कुशल, परिणामोन्मुख और बाज़ार-उन्मुख बनाना था। इसमें निजी क्षेत्र की प्रबंधन तकनीकों को सार्वजनिक प्रशासन में लागू करने पर बल दिया गया। प्रतिस्पर्धा, प्रदर्शन मूल्यांकन, लागत-कुशलता और सेवा-उन्मुख प्रशासन इस मॉडल की प्रमुख विशेषताएँ थीं। हालाँकि इस मॉडल की भी आलोचना हुई। कई विद्वानों ने कहा कि अत्यधिक बाज़ार-उन्मुख दृष्टिकोण सामाजिक न्याय और सार्वजनिक उत्तरदायित्व को कमजोर कर सकता है। शासन केवल दक्षता का प्रश्न नहीं है; उसमें लोकतंत्र और नागरिक अधिकारों का भी महत्त्व होता है।

इसी कारण आधुनिक समय में "नेटवर्क गवर्नेंस" (Network Governance) और "पार्टिसिपेटरी गवर्नेंस" (Participatory Governance) जैसी अवधारणाएँ विकसित हुईं। नेटवर्क गवर्नेंस यह मानता है कि आधुनिक समाज की समस्याएँ इतनी जटिल हैं कि उनका समाधान केवल सरकार द्वारा संभव नहीं है। इसलिए शासन में विभिन्न हितधारकों, संस्थाओं और संगठनों के बीच सहयोग आवश्यक है। उदाहरण के लिए स्वास्थ्य, पर्यावरण और शिक्षा जैसे क्षेत्रों में सरकार, निजी संस्थाएँ, गैर-सरकारी संगठन, स्थानीय समुदाय और अंतरराष्ट्रीय एजेंसियाँ मिलकर कार्य करती हैं। यही नेटवर्क आधारित शासन की विशेषता है। पार्टिसिपेटरी गवर्नेंस अर्थात सहभागी शासन लोकतांत्रिक सहभागिता पर बल देता है। इस मॉडल के अनुसार नागरिक केवल मतदाता नहीं हैं, बल्कि नीति-निर्माण और प्रशासनिक प्रक्रियाओं में सक्रिय भागीदार भी होने चाहिए।

जनसुनवाई, सामाजिक अंकेक्षण, ग्राम सभा, नागरिक चार्टर और सार्वजनिक विमर्श इसी दृष्टिकोण के उदाहरण हैं। सहभागी शासन लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी और वैध बनाने का प्रयास करता है।

समकालीन समय में "गुड गवर्नेंस" अर्थात सुशासन का मॉडल भी अत्यंत प्रभावशाली बन चुका है। विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं ने विकास और प्रशासनिक सुधार के संदर्भ में सुशासन को विशेष महत्त्व दिया। सुशासन की अवधारणा पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, विधि का शासन, सहभागिता, दक्षता और समावेशन जैसे तत्वों पर आधारित है। यह माना जाता है कि आर्थिक विकास तभी स्थायी और न्यायपूर्ण हो सकता है जब शासन प्रभावी और उत्तरदायी हो। भारतीय संदर्भ में शासन के इन विभिन्न मॉडलों का मिश्रित स्वरूप दिखाई देता है। पारंपरिक नौकरशाही, लोकतांत्रिक संस्थाएँ, ई-गवर्नेंस, नागरिक समाज और सहभागी प्रक्रियाएँ एक साथ कार्य करती हैं। पंचायती राज संस्थाएँ, डिजिटल इंडिया, आधार, सामाजिक अंकेक्षण और सूचना का अधिकार अधिनियम आधुनिक भारतीय शासन की बदलती प्रकृति को दर्शाते हैं। इस प्रकार शासन के सिद्धांत और मॉडल समय के साथ निरंतर विकसित हुए हैं। आधुनिक शासन केवल प्रशासनिक नियंत्रण नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक सहभागिता, संस्थागत सहयोग और सार्वजनिक उत्तरदायित्व की बहुआयामी प्रक्रिया बन चुका है।

2.6 लोकतंत्र और शासन का संबंध

आधुनिक राजनीतिक विज्ञान में लोकतंत्र और शासन के संबंध को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। लोकतंत्र केवल चुनावों और प्रतिनिधियों के चयन की व्यवस्था नहीं है, बल्कि यह ऐसी राजनीतिक प्रणाली है जिसमें शासन जनता की सहमति, सहभागिता और उत्तरदायित्व के आधार पर संचालित होता है। इसी कारण लोकतंत्र और शासन परस्पर गहराई से जुड़े हुए हैं। लोकतंत्र की मूल अवधारणा जनसत्ता (Popular Sovereignty) पर आधारित है। इसका अर्थ है कि राज्य की अंतिम वैधता जनता से प्राप्त होती है। किन्तु केवल लोकतांत्रिक संस्थाओं का अस्तित्व पर्याप्त नहीं है। यदि शासन पारदर्शी, उत्तरदायी और प्रभावी न हो, तो लोकतंत्र की वास्तविक सफलता संभव नहीं हो सकती। इसी कारण आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में "लोकतांत्रिक शासन" (Democratic Governance) की अवधारणा को विशेष महत्त्व दिया जाता है।

ब्रायन करी और एड्रियन लेफ्टविच जैसे विद्वानों ने विकासशील देशों के संदर्भ में लोकतंत्र और शासन के संबंध का विश्लेषण किया। लेफ्टविच ने यह तर्क दिया कि प्रभावी शासन विकास और लोकतांत्रिक स्थिरता दोनों के लिए आवश्यक है। यदि प्रशासनिक संस्थाएँ कमजोर हों, भ्रष्टाचार व्यापक हो और नीति-क्रियान्वयन प्रभावी न हो, तो लोकतांत्रिक व्यवस्था भी संकटग्रस्त हो सकती है। लोकतांत्रिक शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उत्तरदायित्व (Accountability) है। लोकतांत्रिक प्रणाली में सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। चुनाव, संसद, न्यायपालिका, मीडिया और नागरिक समाज शासन को नियंत्रित और जवाबदेह बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

लोकतंत्र और शासन के संबंध में पारदर्शिता भी अत्यंत आवश्यक तत्व है। यदि सरकारी निर्णय गुप्त और अपारदर्शी होंगे, तो भ्रष्टाचार और शक्ति के दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाएगी। इसी कारण सूचना का अधिकार (RTI) जैसे कानूनों को लोकतांत्रिक शासन का महत्त्वपूर्ण उपकरण माना जाता है। लोकतंत्र और शासन के बीच संबंध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष नागरिक सहभागिता है। आधुनिक लोकतंत्र केवल प्रतिनिधिक संस्थाओं तक सीमित नहीं माना जाता। नागरिकों की सक्रिय भागीदारी, जनसुनवाई, सामाजिक आंदोलनों, सार्वजनिक विमर्श और डिजिटल मंचों के माध्यम से लोकतंत्र अधिक सहभागी बनता है।

गेब्रियल आल्मंड और सिडनी वर्बा ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'द सिविक कल्चर' (*The Civic Culture*) में राजनीतिक संस्कृति और लोकतंत्र के संबंध पर बल दिया। उनके अनुसार लोकतंत्र की सफलता के लिए सक्रिय और जागरूक नागरिक संस्कृति आवश्यक है। यदि नागरिक राजनीतिक प्रक्रिया से उदासीन हो जाएँ, तो

लोकतांत्रिक शासन कमजोर पड़ सकता है। भारतीय संदर्भ में लोकतंत्र और शासन का संबंध विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारत विश्व का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। भारतीय संविधान ने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, मौलिक अधिकारों और लोकतांत्रिक संस्थाओं के माध्यम से जनता को शासन की प्रक्रिया में सम्मिलित किया।किन्तु भारतीय लोकतंत्र को अनेक चुनौतियों का सामना भी करना पड़ा है। भ्रष्टाचार, प्रशासनिक लालफीताशाही, नीति-क्रियान्वयन की कमजोरी, सामाजिक असमानता और राजनीतिक अपराधीकरण जैसी समस्याओं ने शासन की गुणवत्ता पर प्रश्न उठाए हैं। इसी कारण सुशासन और प्रशासनिक सुधार की अवधारणाएँ भारतीय लोकतांत्रिक विमर्श में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गईं।

पंचायती राज संस्थाओं और लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण को भी लोकतांत्रिक शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम माना जाता है। 73वें और 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से स्थानीय स्वशासन को संवैधानिक आधार प्रदान किया गया। इसका उद्देश्य शासन को अधिक सहभागी और स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील बनाना था।समकालीन समय में डिजिटल तकनीक ने लोकतंत्र और शासन के संबंध को नए रूप में प्रभावित किया है। सोशल मीडिया, ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणाली, डिजिटल सेवाएँ और ई-गवर्नेंस ने नागरिकों को शासन से सीधे जोड़ने के नए अवसर प्रदान किए हैं।

हालाँकि डिजिटल लोकतंत्र के साथ नई चुनौतियाँ भी उत्पन्न हुई हैं। गलत सूचना (Misinformation), डिजिटल विभाजन (Digital Divide) और डेटा-सुरक्षा जैसे प्रश्न लोकतांत्रिक शासन को प्रभावित कर रहे हैं।लोकतंत्र और शासन के संबंध का एक महत्त्वपूर्ण आयाम सामाजिक न्याय भी है। यदि शासन केवल कुछ विशेष वर्गों के हितों तक सीमित रह जाए, तो लोकतंत्र की वास्तविक भावना कमजोर हो जाती है। इसलिए लोकतांत्रिक शासन में समावेशन, समान अवसर और सामाजिक कल्याण को भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) और विश्व बैंक जैसे संस्थानों ने भी यह स्वीकार किया है कि विकास केवल आर्थिक वृद्धि का प्रश्न नहीं है। प्रभावी शासन, विधि का शासन, पारदर्शिता और लोकतांत्रिक सहभागिता जैसे कारक भी विकास की स्थिरता के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार लोकतंत्र और शासन परस्पर पूरक अवधारणाएँ हैं। लोकतंत्र शासन को वैधता प्रदान करता है, जबकि प्रभावी शासन लोकतंत्र को स्थिरता और विश्वसनीयता प्रदान करता है। यदि लोकतंत्र में उत्तरदायी और पारदर्शी शासन नहीं होगा, तो जनता का विश्वास कमजोर हो सकता है। इसी प्रकार यदि शासन लोकतांत्रिक मूल्यों से रहित होगा, तो वह अधिनायकवादी प्रवृत्तियों की ओर बढ़ सकता है।

अतः आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में लोकतंत्र और शासन के बीच संतुलित संबंध लोकतांत्रिक स्थिरता, सामाजिक न्याय और विकास के लिए अत्यंत आवश्यक माना जाता है।

2.7 सुशासन (Good Governance): अर्थ एवं विशेषताएँ

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में "सुशासन" (Good Governance) की अवधारणा अंतरराष्ट्रीय राजनीति, विकास प्रशासन और सार्वजनिक नीति के क्षेत्र में अत्यंत प्रभावशाली बनकर उभरी। विशेष रूप से विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP), अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) तथा अन्य वैश्विक संस्थाओं ने विकासशील देशों में प्रशासनिक सुधार, पारदर्शिता और उत्तरदायित्व के संदर्भ में सुशासन पर बल दिया। सुशासन का सामान्य अर्थ ऐसी शासन-व्यवस्था से है जो प्रभावी, उत्तरदायी, पारदर्शी, सहभागी और न्यायपूर्ण हो। यह केवल प्रशासनिक दक्षता तक सीमित अवधारणा नहीं है, बल्कि लोकतंत्र, विधि के शासन, मानवाधिकार और नागरिक सहभागिता से भी गहराई से जुड़ी हुई है।

विश्व बैंक ने सुशासन को आर्थिक और सामाजिक संसाधनों के प्रभावी प्रबंधन से संबंधित अवधारणा के रूप में प्रस्तुत किया। इसके अनुसार विकास तभी संभव है जब शासन-व्यवस्था भ्रष्टाचार-मुक्त, पारदर्शी और उत्तरदायी हो।यू. एन. डी. पी. (UNDP) ने सुशासन को अधिक व्यापक रूप में परिभाषित किया। उसके अनुसार सुशासन ऐसी प्रक्रिया है जिसके माध्यम से सार्वजनिक संस्थाएँ नागरिकों के हितों की पूर्ति करती हैं, मानवाधिकारों की रक्षा करती हैं और जनता की सहभागिता सुनिश्चित करती हैं। आधुनिक राजनीतिक विश्लेषण में यह माना जाता है कि केवल सरकार का अस्तित्व पर्याप्त नहीं है। यदि शासन भ्रष्ट, अपारदर्शी और अक्षम हो, तो लोकतंत्र और विकास दोनों प्रभावित होते हैं। इसी कारण सुशासन को विकास और लोकतांत्रिक स्थिरता की आवश्यक शर्त माना जाने लगा।

सुशासन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उत्तरदायित्व (Accountability) है। लोकतांत्रिक शासन में सरकार और प्रशासन जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं। यदि सार्वजनिक अधिकारी अपने कार्यों के लिए जवाबदेह न हों, तो भ्रष्टाचार और शक्ति के दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाती है। भारतीय संदर्भ में सूचना का अधिकार अधिनियम (RTI), लोकपाल व्यवस्था, सामाजिक अंकेक्षण और जनहित याचिका जैसी व्यवस्थाओं को उत्तरदायी शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम माना जाता है। सुशासन की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता पारदर्शिता (Transparency) है। प्रशासनिक निर्णयों और सरकारी प्रक्रियाओं में खुलापन लोकतांत्रिक विश्वास को मजबूत करता है। पारदर्शिता का अर्थ यह है कि नागरिकों को सरकारी नीतियों, योजनाओं और निर्णयों की जानकारी उपलब्ध हो।

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 ने भारत में पारदर्शिता की दिशा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। इस कानून ने नागरिकों को सरकारी सूचनाओं तक पहुँच का अधिकार प्रदान किया और प्रशासनिक गोपनीयता की परंपरा को चुनौती दी। सुशासन का तीसरा प्रमुख तत्व विधि का शासन (Rule of Law) है। इसका अर्थ है कि सभी व्यक्ति और संस्थाएँ विधि के अधीन हैं तथा शासन मनमाने ढंग से संचालित नहीं हो सकता। स्वतंत्र न्यायपालिका, निष्पक्ष प्रशासन और संवैधानिक सीमाएँ विधि के शासन की आधारशिला हैं।लोकतांत्रिक शासन में नागरिक सहभागिता (Participation) को भी सुशासन का महत्त्वपूर्ण तत्व माना जाता है। लोकतंत्र केवल चुनाव तक सीमित नहीं है। नागरिकों की सक्रिय भागीदारी, ग्राम सभा, जनसुनवाई, सामाजिक अंकेक्षण और नागरिक समाज की भूमिका शासन को अधिक वैध और प्रभावी बनाती है।

समावेशन (Inclusiveness) भी सुशासन का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यदि शासन केवल कुछ विशेष वर्गों के हितों की रक्षा करे और समाज के कमजोर वर्ग निर्णय-प्रक्रिया से बाहर रह जाएँ, तो लोकतंत्र की वास्तविक भावना कमजोर हो जाती है। इसलिए सुशासन सामाजिक न्याय और समान अवसरों पर भी बल देता है। सुशासन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण तत्व दक्षता और प्रभावशीलता (Efficiency and Effectiveness) है। प्रशासनिक संस्थाओं का उद्देश्य केवल नियमों का पालन करना नहीं, बल्कि नागरिकों को समयबद्ध और गुणवत्तापूर्ण सेवाएँ प्रदान करना भी है। ई-गवर्नेंस, डिजिटल सेवाएँ, ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणाली और सेवा वितरण में तकनीकी सुधार इसी दिशा में उठाए गए कदम हैं। भारतीय संदर्भ में सुशासन का प्रश्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारत जैसे विशाल लोकतंत्र में प्रशासनिक चुनौतियाँ अत्यंत जटिल हैं। गरीबी, भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, क्षेत्रीय असमानता और संसाधनों की कमी शासन की गुणवत्ता को प्रभावित करती हैं।

इसी कारण विभिन्न प्रशासनिक सुधार आयोगों ने पारदर्शिता, विकेंद्रीकरण, नागरिक-केंद्रित प्रशासन और डिजिटल शासन पर बल दिया। हालाँकि सुशासन की अवधारणा आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ कई बार सुशासन को मुख्यतः आर्थिक सुधार और बाज़ार-उन्मुख नीतियों से जोड़ देती हैं। आलोचकों का कहना है कि सुशासन को केवल प्रशासनिक दक्षता तक सीमित नहीं किया जा सकता;

इसमें सामाजिक न्याय और लोकतांत्रिक समानता को भी समान महत्त्व मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि कई विकासशील देशों में "सुशासन" की अवधारणा को पश्चिमी प्रशासनिक मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया गया, जबकि विभिन्न समाजों की ऐतिहासिक और सामाजिक परिस्थितियाँ भिन्न होती हैं।

फिर भी आधुनिक राजनीतिक विज्ञान और लोक प्रशासन में सुशासन की अवधारणा अत्यंत प्रभावशाली बनी हुई है। यह शासन को केवल शक्ति-प्रयोग की प्रक्रिया नहीं, बल्कि सार्वजनिक उत्तरदायित्व, पारदर्शिता, लोकतंत्र और नागरिक कल्याण की व्यवस्था के रूप में देखने का प्रयास करती है। इस प्रकार सुशासन आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य की एक आदर्श शासन-व्यवस्था को व्यक्त करता है जिसमें प्रशासनिक दक्षता, सामाजिक न्याय, विधि का शासन और नागरिक सहभागिता के बीच संतुलन स्थापित किया जाता है।

2.8 ई-शासन (E-Governance): अवधारणा एवं विकास

इक्कीसवीं शताब्दी में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (Information and Communication Technology – ICT) के तीव्र विकास ने शासन की प्रकृति को गहराई से प्रभावित किया है। आधुनिक राज्य अब केवल पारंपरिक प्रशासनिक संरचनाओं के माध्यम से कार्य नहीं करते, बल्कि डिजिटल तकनीक, ऑनलाइन प्लेटफ़ॉर्म, इलेक्ट्रॉनिक डेटाबेस और नेटवर्क आधारित प्रशासनिक प्रणालियों का व्यापक उपयोग करते हैं। इसी संदर्भ में "ई-शासन" (E-Governance) की अवधारणा विकसित हुई।

ई-शासन का सामान्य अर्थ शासन और प्रशासन की प्रक्रियाओं में सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग है ताकि सार्वजनिक सेवाओं को अधिक प्रभावी, पारदर्शी, उत्तरदायी और सुलभ बनाया जा सके। यह केवल कंप्यूटर या इंटरनेट के उपयोग तक सीमित नहीं है, बल्कि शासन की कार्यप्रणाली में संरचनात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया है।

अरुण सक्सेना ने अपने लेख 'ई-गवर्नेंस एंड गुड गवर्नेंस : द इंडियन कॉन्टेक्स्ट' (*E-Governance and Good Governance: The Indian Context*) में ई-शासन को प्रशासनिक दक्षता और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व से जोड़ते हुए समझाया। उनके अनुसार सूचना प्रौद्योगिकी शासन को अधिक पारदर्शी, तेज और नागरिक-केंद्रित बनाने की क्षमता रखती है।

ई-शासन का विकास वैश्वीकरण और प्रशासनिक सुधारों की व्यापक प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में यह अनुभव किया गया कि पारंपरिक नौकरशाही मॉडल आधुनिक समाज की जटिल आवश्यकताओं को पूरा करने में पर्याप्त नहीं है। प्रशासनिक प्रक्रियाएँ धीमी, जटिल और कई बार भ्रष्टाचार से प्रभावित थीं।

इसी कारण डिजिटल तकनीक को शासन-सुधार के उपकरण के रूप में देखा जाने लगा। ई-शासन का उद्देश्य केवल प्रशासनिक सुविधा प्रदान करना नहीं, बल्कि शासन को अधिक लोकतांत्रिक और उत्तरदायी बनाना भी था।

ई-शासन की अवधारणा को सामान्यतः चार प्रमुख आयामों में समझा जाता है–

- सरकार से नागरिक (Government to Citizen – G2C)
- सरकार से सरकार (Government to Government – G2G)
- सरकार से व्यवसाय (Government to Business – G2B)
- सरकार से कर्मचारी (Government to Employee – G2E)

सरकार से नागरिक (Government to Citizen–G2C) मॉडल नागरिकों को प्रत्यक्ष सेवाएँ प्रदान करने से संबंधित है। उदाहरण के लिए ऑनलाइन प्रमाण-पत्र, डिजिटल भुगतान, पासपोर्ट सेवाएँ, बिजली-पानी के बिलों

का भुगतान, रेलवे टिकट बुकिंग और डिजिटल शिकायत निवारण प्रणाली इसी श्रेणी में आते हैं। सरकार से सरकार (Government to Government–G2G) मॉडल प्रशासनिक संस्थाओं के मध्य समन्वय और सूचनाओं के आदान-प्रदान से संबंधित है। डिजिटल फाइल प्रणाली, केंद्रीय और राज्य सरकारों के बीच डेटा-साझाकरण तथा ऑनलाइन प्रशासनिक समन्वय इसी के उदाहरण हैं। सरकार से व्यवसाय (Government to Business–G2B) मॉडल व्यापारिक गतिविधियों और प्रशासनिक प्रक्रियाओं को सरल बनाने से जुड़ा है। ऑनलाइन कर भुगतान, डिजिटल लाइसेंस प्रणाली और ई-टेंडरिंग जैसी व्यवस्थाएँ व्यवसायिक पारदर्शिता और दक्षता को बढ़ाती हैं।

सरकार से कर्मचारी (Government to Employee–G2E) मॉडल सरकारी कर्मचारियों से संबंधित प्रशासनिक प्रक्रियाओं को डिजिटल रूप में व्यवस्थित करता है। वेतन, सेवा अभिलेख, पेंशन और प्रशासनिक संचार का डिजिटलीकरण इसी का हिस्सा है। ई-शासन का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य प्रशासनिक पारदर्शिता को बढ़ाना है। पारंपरिक प्रशासनिक व्यवस्था में नागरिकों और प्रशासन के बीच प्रत्यक्ष संपर्क कई बार भ्रष्टाचार और विलंब का कारण बनता था। डिजिटल प्रणाली प्रक्रियाओं को अधिक स्पष्ट और निगरानी योग्य बनाती है। उदाहरण के लिए रेलवे आरक्षण प्रणाली के डिजिटलीकरण ने टिकट वितरण को अधिक पारदर्शी और सुलभ बनाया। इसी प्रकार आयकर विभाग की ऑनलाइन प्रणाली ने कर प्रशासन को अधिक कुशल और कम जटिल बनाने का प्रयास किया।

ई-शासन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य नागरिक-केंद्रित प्रशासन का निर्माण है। पारंपरिक नौकरशाही मॉडल में प्रशासन मुख्यतः संस्थागत नियंत्रण पर आधारित था, जबकि ई-शासन नागरिकों को सेवा-प्राप्ति की प्रक्रिया में केंद्र में रखने का प्रयास करता है। समकालीन शासन-सिद्धांत में यह माना जाता है कि लोकतांत्रिक प्रशासन तभी प्रभावी हो सकता है जब नागरिकों को समयबद्ध, पारदर्शी और सुलभ सेवाएँ प्राप्त हों। इसी कारण ई-शासन को "responsive governance" अर्थात उत्तरदायी शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम माना जाता है।

भारत में ई-शासन का विकास 1990 के दशक के प्रशासनिक सुधारों और आर्थिक उदारीकरण के बाद तेज हुआ। राष्ट्रीय सूचना विज्ञान केंद्र (NIC) की स्थापना, डिजिटल रिकॉर्ड प्रणाली और इंटरनेट के विस्तार ने प्रशासनिक डिजिटलीकरण की प्रक्रिया को गति दी। इसके बाद राष्ट्रीय ई-गवर्नेंस योजना (National e-Governance Plan–NeGP) प्रारंभ की गई, जिसका उद्देश्य विभिन्न सरकारी सेवाओं को डिजिटल माध्यम से नागरिकों तक पहुँचाना था। भारत में ई-शासन के अनेक महत्त्वपूर्ण उदाहरण दिखाई देते हैं। आधार परियोजना दुनिया की सबसे बड़ी डिजिटल पहचान प्रणालियों में से एक मानी जाती है। इसके माध्यम से नागरिकों की पहचान और सरकारी सेवाओं के वितरण को डिजिटल रूप से व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया।

प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (Direct Benefit Transfer – DBT) प्रणाली ने सरकारी सब्सिडी और कल्याणकारी योजनाओं की राशि सीधे लाभार्थियों के बैंक खातों में भेजने की व्यवस्था विकसित की। सरकार का तर्क था कि इससे भ्रष्टाचार और बिचौलियों की भूमिका कम होगी।"डिजिटल इंडिया" कार्यक्रम ई-शासन की दिशा में भारत की सबसे व्यापक पहल मानी जाती है। इसका उद्देश्य डिजिटल अवसंरचना का विस्तार, सरकारी सेवाओं का ऑनलाइन वितरण और डिजिटल साक्षरता को बढ़ाना था। ई-शासन के माध्यम से भूमि अभिलेखों के डिजिटलीकरण, ऑनलाइन शिक्षा, डिजिटल स्वास्थ्य सेवाओं और पंचायत स्तर तक इंटरनेट आधारित प्रशासनिक सेवाओं को भी प्रोत्साहित किया गया।हालाँकि ई-शासन की अवधारणा आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। आलोचकों का मत है कि तकनीक स्वयं में लोकतांत्रिक नहीं होती। यदि समाज में डिजिटल असमानता मौजूद हो, तो ई-शासन कई बार नए प्रकार के बहिष्कार उत्पन्न कर सकता है।

भारत में डिजिटल विभाजन (Digital Divide) एक गंभीर समस्या है। ग्रामीण क्षेत्रों, गरीब समुदायों, महिलाओं और तकनीकी रूप से वंचित वर्गों को डिजिटल सेवाओं तक समान पहुँच प्राप्त नहीं है। ऐसी स्थिति में केवल डिजिटल माध्यमों पर आधारित प्रशासन सभी नागरिकों के लिए समान रूप से प्रभावी नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त निजता (Privacy), निगरानी (Surveillance) और डेटा-सुरक्षा से जुड़े प्रश्न भी ई-शासन के संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन गए हैं। आधार और डिजिटल डेटा संग्रहण से संबंधित बहसों में यह प्रश्न उठाया गया कि राज्य और निजी संस्थाओं के पास नागरिकों की व्यक्तिगत सूचनाओं पर कितना नियंत्रण होना चाहिए। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से यह बहस केवल तकनीकी नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक अधिकारों से जुड़ी हुई है। यदि डिजिटल शासन नागरिक स्वतंत्रता और निजता को कमजोर करे, तो यह लोकतांत्रिक शासन की मूल भावना के विरुद्ध जा सकता है।

इसके बावजूद यह स्पष्ट है कि आधुनिक शासन-व्यवस्था में ई-शासन की भूमिका निरंतर बढ़ रही है। सूचना प्रौद्योगिकी ने प्रशासनिक प्रक्रियाओं को तेज, समन्वित और अधिक पारदर्शी बनाने की संभावनाएँ उत्पन्न की हैं। इस प्रकार ई-शासन आधुनिक शासन की बदलती प्रकृति को व्यक्त करता है, जहाँ तकनीक केवल प्रशासनिक उपकरण नहीं, बल्कि लोकतंत्र, पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और नागरिक सहभागिता की नई संरचनाओं का निर्माण कर रही है।

2.9 भारत में ई-शासन की प्रमुख पहलें

भारत में ई-शासन का विकास केवल तकनीकी परिवर्तन का परिणाम नहीं था, बल्कि यह प्रशासनिक सुधार, सुशासन और नागरिक-केंद्रित शासन की व्यापक परियोजना का हिस्सा था। 1990 के दशक के आर्थिक उदारीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी क्रांति के बाद यह अनुभव किया गया कि पारंपरिक प्रशासनिक संरचना विशाल जनसंख्या और जटिल प्रशासनिक आवश्यकताओं को प्रभावी ढंग से पूरा करने में कठिनाइयों का सामना कर रही है। इसी कारण सूचना प्रौद्योगिकी को शासन-सुधार और सार्वजनिक सेवा वितरण के महत्त्वपूर्ण माध्यम के रूप में देखा जाने लगा। भारत में ई-शासन की प्रारंभिक पहलें मुख्यतः प्रशासनिक कंप्यूटरीकरण और डेटा प्रबंधन तक सीमित थीं। राष्ट्रीय सूचना विज्ञान केंद्र (National Informatics Centre–NIC) ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। NIC की स्थापना ने केंद्र और राज्य सरकारों के प्रशासनिक डिजिटलीकरण की प्रक्रिया को संस्थागत आधार प्रदान किया। धीरे-धीरे शासन में सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग केवल प्रशासनिक रिकॉर्ड तक सीमित न रहकर नागरिक सेवाओं के वितरण तक विस्तृत हो गया। इस परिवर्तन का उद्देश्य शासन को अधिक पारदर्शी, उत्तरदायी और दक्ष बनाना था।

राष्ट्रीय ई-गवर्नेंस योजना (National e-Governance Plan – NeGP) भारत में ई-शासन की दिशा में सबसे महत्त्वपूर्ण पहल मानी जाती है। इसे 2006 में प्रारंभ किया गया। इसका उद्देश्य विभिन्न सरकारी सेवाओं को डिजिटल माध्यम से नागरिकों तक पहुँचाना तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं को एकीकृत और सरल बनाना था। NeGP के अंतर्गत अनेक "Mission Mode Projects" प्रारंभ किए गए। इनमें पासपोर्ट सेवा, आयकर प्रणाली, भूमि अभिलेख, बैंकिंग, नगरपालिका सेवाएँ और ग्रामीण प्रशासन से संबंधित डिजिटल परियोजनाएँ शामिल थीं। भूमि अभिलेखों का डिजिटलीकरण भारत में ई-शासन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है। पारंपरिक व्यवस्था में भूमि रिकॉर्ड जटिल, अपारदर्शी और कई बार भ्रष्टाचार से प्रभावित होते थे। कर्नाटक की "भूमि परियोजना" (Bhoomi Project) को इस क्षेत्र में अग्रणी पहल माना जाता है। इसके माध्यम से भूमि अभिलेखों को डिजिटल रूप दिया गया जिससे किसानों और नागरिकों को रिकॉर्ड प्राप्त करने में सुविधा हुई।

इसी प्रकार आंध्र प्रदेश की "ई-सेवा" (e-Seva) और "मी-सेवा" (MeeSeva) परियोजनाओं ने नागरिक सेवाओं को ऑनलाइन उपलब्ध कराने का प्रयास किया। नागरिक बिजली, पानी, कर और अन्य सेवाओं का भुगतान डिजिटल माध्यम से कर सकते थे। रेलवे टिकट आरक्षण प्रणाली भारत में डिजिटल प्रशासन का सबसे प्रारंभिक और प्रभावशाली उदाहरणों में से एक रही। भारतीय रेलवे की ऑनलाइन बुकिंग प्रणाली ने सेवा वितरण में पारदर्शिता और दक्षता को बढ़ाया। यह ई-शासन की उस अवधारणा को दर्शाती है जिसमें तकनीक नागरिक सुविधा और प्रशासनिक सुधार दोनों का माध्यम बनती है। आधार (Aadhaar) परियोजना भारत की सबसे व्यापक डिजिटल पहचान प्रणाली है। भारतीय विशिष्ट पहचान प्राधिकरण (UIDAI) द्वारा संचालित इस परियोजना का उद्देश्य प्रत्येक नागरिक को विशिष्ट पहचान संख्या प्रदान करना था। सरकार का तर्क था कि आधार के माध्यम से कल्याणकारी योजनाओं का वितरण अधिक पारदर्शी और लक्षित बनाया जा सकता है।

आधार को प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (Direct Benefit Transfer–DBT) प्रणाली से जोड़ा गया। DBT के माध्यम से सरकारी सब्सिडी और सहायता राशि सीधे लाभार्थियों के बैंक खातों में भेजी जाने लगी। सरकार के अनुसार इससे बिचौलियों और भ्रष्टाचार को कम करने में सहायता मिली। जन-धन योजना, आधार और मोबाइल तकनीक के संयोजन को "JAM Trinity" कहा गया। इसे वित्तीय समावेशन और डिजिटल शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण पहल माना गया।

"डिजिटल इंडिया" कार्यक्रम, जिसे 2015 में प्रारंभ किया गया, भारत में ई-शासन की व्यापक परियोजना के रूप में देखा जाता है। इसका उद्देश्य डिजिटल अवसंरचना का विस्तार, इंटरनेट कनेक्टिविटी बढ़ाना, सरकारी सेवाओं को ऑनलाइन उपलब्ध कराना और नागरिकों को डिजिटल रूप से सशक्त बनाना था। डिजिटल इंडिया के अंतर्गत ई-हॉस्पिटल, डिजिलॉकर, ई-नाम (e-NAM), उमंग (UMANG) ऐप और डिजिटल भुगतान प्रणाली जैसी अनेक पहलें प्रारंभ की गईं। डिजिलॉकर (DigiLocker) नागरिकों को डिजिटल रूप में दस्तावेज़ सुरक्षित रखने और साझा करने की सुविधा प्रदान करता है। इससे कागज़ी प्रक्रियाओं में कमी लाने और प्रशासनिक सुविधा बढ़ाने का प्रयास किया गया।

ई-नाम (National Agriculture Market–e-NAM) का उद्देश्य कृषि बाज़ारों को डिजिटल रूप से एकीकृत करना था ताकि किसान बेहतर मूल्य और पारदर्शी व्यापारिक व्यवस्था प्राप्त कर सकें। कोविड-19 महामारी के दौरान भी ई-शासन की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही। आरोग्य सेतु (Aarogya Setu), कोविन (CoWIN) प्लेटफ़ॉर्म और डिजिटल टीकाकरण प्रमाण-पत्र प्रणाली ने सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रशासन में तकनीक की उपयोगिता को स्पष्ट किया। भारत में न्यायपालिका और शिक्षा के क्षेत्र में भी ई-शासन का विस्तार हुआ। ई-कोर्ट परियोजना, ऑनलाइन सुनवाई, डिजिटल शिक्षा प्लेटफ़ॉर्म और विश्वविद्यालयों की ऑनलाइन प्रशासनिक प्रणालियाँ शासन के डिजिटलीकरण की व्यापक प्रक्रिया को दर्शाती हैं।

हालाँकि इन पहलों की आलोचना भी हुई है। कई विद्वानों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने यह तर्क दिया कि डिजिटल शासन का लाभ समाज के सभी वर्गों तक समान रूप से नहीं पहुँच पाया है। ग्रामीण क्षेत्रों, गरीब समुदायों और तकनीकी रूप से वंचित समूहों को डिजिटल सेवाओं तक पहुँच में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आधार और डिजिटल पहचान से संबंधित निजता और डेटा-सुरक्षा के प्रश्न भी व्यापक बहस का विषय बने। सर्वोच्च न्यायालय ने 'के. एस. पुट्टस्वामी बनाम भारत संघ' (2017) मामले में निजता को मौलिक अधिकार घोषित करते हुए डिजिटल शासन और नागरिक अधिकारों के संबंध को नई संवैधानिक दिशा प्रदान की।

ई-शासन की सफलता केवल तकनीकी विस्तार पर निर्भर नहीं करती। इसके लिए प्रशासनिक क्षमता, डिजिटल साक्षरता, साइबर सुरक्षा और नागरिकों के प्रति संवेदनशीलता भी आवश्यक है। यदि तकनीक को केवल नियंत्रण

और निगरानी के उपकरण के रूप में प्रयोग किया जाए, तो लोकतांत्रिक शासन की भावना कमजोर हो सकती है। फिर भी यह स्पष्ट है कि भारत में ई-शासन ने प्रशासनिक प्रक्रियाओं को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। डिजिटल तकनीक ने शासन को अधिक सुलभ, तेज और पारदर्शी बनाने की संभावनाएँ उत्पन्न की हैं। आधुनिक भारतीय शासन की दिशा को समझने के लिए ई-शासन की इन पहलों का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

2.10 ई-शासन : उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ

ई-शासन को आधुनिक प्रशासनिक सुधारों की सबसे महत्त्वपूर्ण प्रक्रियाओं में से एक माना जाता है। सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी के माध्यम से शासन को अधिक पारदर्शी, उत्तरदायी और दक्ष बनाने का जो प्रयास प्रारंभ हुआ, उसने प्रशासन और नागरिकों के संबंध को गहराई से प्रभावित किया। भारत जैसे विशाल लोकतांत्रिक देश में, जहाँ प्रशासनिक चुनौतियाँ अत्यंत जटिल हैं, ई-शासन को सुशासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में देखा गया। ई-शासन की सबसे बड़ी उपलब्धि प्रशासनिक प्रक्रियाओं में पारदर्शिता का विस्तार है। पारंपरिक प्रशासनिक व्यवस्था में नागरिकों और सरकारी अधिकारियों के बीच प्रत्यक्ष संपर्क कई बार भ्रष्टाचार और अनावश्यक विलंब का कारण बनता था। डिजिटल प्रणाली ने अनेक प्रक्रियाओं को ऑनलाइन और निगरानी योग्य बना दिया।

उदाहरण के लिए रेलवे आरक्षण, ऑनलाइन कर भुगतान, डिजिटल भूमि अभिलेख और पासपोर्ट सेवा प्रणाली ने सेवा वितरण में पारदर्शिता और समयबद्धता को बढ़ाया। नागरिक अब अनेक सेवाएँ बिना मध्यस्थों के प्राप्त कर सकते हैं। सूचना का त्वरित आदान-प्रदान ई-शासन की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। डिजिटल नेटवर्क ने प्रशासनिक संस्थाओं के बीच समन्वय को अधिक प्रभावी बनाया है। केंद्र और राज्य सरकारों के बीच सूचनाओं का आदान-प्रदान, डिजिटल रिकॉर्ड प्रणाली और ऑनलाइन निगरानी तंत्र ने नीति-क्रियान्वयन को अपेक्षाकृत अधिक संगठित बनाया।

ई-शासन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नागरिक-केंद्रित प्रशासन का विकास है। आधुनिक शासन-सिद्धांत में यह माना जाता है कि प्रशासन का उद्देश्य केवल नियमों का पालन नहीं, बल्कि नागरिकों को गुणवत्तापूर्ण सेवाएँ प्रदान करना है। डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म ने नागरिकों को शिकायत दर्ज कराने, सूचना प्राप्त करने और प्रशासन से सीधे संवाद करने के नए अवसर प्रदान किए।

उमंग (UMANG), डिजिलॉकर (DigiLocker), कोविन (CoWIN) और विभिन्न राज्य स्तरीय सेवा पोर्टल इसी परिवर्तन के उदाहरण हैं। इन प्लेटफ़ॉर्मों ने नागरिकों को घर बैठे अनेक प्रशासनिक सेवाएँ उपलब्ध कराईं।प्रत्यक्ष लाभ अंतरण (DBT) प्रणाली को भी ई-शासन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है। इसके माध्यम से सरकारी सहायता राशि सीधे लाभार्थियों के बैंक खातों में भेजी जाने लगी। सरकार का दावा था कि इससे बिचौलियों की भूमिका कम हुई और कल्याणकारी योजनाओं का वितरण अधिक प्रभावी बना।ई-शासन ने ग्रामीण प्रशासन और स्थानीय शासन को भी प्रभावित किया। पंचायत स्तर तक डिजिटल सेवाओं और इंटरनेट कनेक्टिविटी का विस्तार करने का प्रयास किया गया। कॉमन सर्विस सेंटर (CSC) जैसी व्यवस्थाओं के माध्यम से ग्रामीण नागरिकों को डिजिटल सेवाओं तक पहुँच प्रदान की गई।

कोविड-19 महामारी के दौरान ई-शासन की उपयोगिता विशेष रूप से स्पष्ट हुई। ऑनलाइन शिक्षा, डिजिटल स्वास्थ्य सेवाएँ, वैक्सीन पंजीकरण और डिजिटल प्रमाण-पत्र प्रणाली ने यह प्रदर्शित किया कि आधुनिक संकट-प्रबंधन में डिजिटल प्रशासन की भूमिका कितनी महत्त्वपूर्ण हो सकती है। हालाँकि ई-शासन की उपलब्धियों के साथ अनेक सीमाएँ और चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई हैं। सबसे बड़ी समस्या डिजिटल विभाजन (Digital Divide)

की है। भारत में अभी भी बड़ी संख्या में लोग इंटरनेट, स्मार्टफोन और डिजिटल साक्षरता से वंचित हैं। ग्रामीण क्षेत्रों, गरीब समुदायों, महिलाओं और बुजुर्गों को डिजिटल सेवाओं तक समान पहुँच प्राप्त नहीं है।

यदि शासन अत्यधिक डिजिटल माध्यमों पर निर्भर हो जाए, तो समाज के वंचित वर्ग प्रशासनिक प्रक्रियाओं से बाहर हो सकते हैं। यही कारण है कि कई विद्वान ई-शासन को "inclusive governance" अर्थात समावेशी शासन के दृष्टिकोण से देखने पर बल देते हैं। डिजिटल साक्षरता की कमी भी एक गंभीर समस्या है। अनेक नागरिक तकनीकी प्रक्रियाओं को समझने और उपयोग करने में कठिनाई महसूस करते हैं। ऐसी स्थिति में ई-शासन की प्रभावशीलता सीमित हो जाती है। ई-शासन की एक अन्य प्रमुख सीमा डेटा-सुरक्षा और निजता (Privacy) से संबंधित है। आधुनिक डिजिटल शासन नागरिकों की विशाल मात्रा में व्यक्तिगत सूचनाओं का संग्रह करता है। आधार, डिजिटल भुगतान और ऑनलाइन प्रशासनिक प्लेटफ़ॉर्मों के विस्तार ने यह प्रश्न उत्पन्न किया कि नागरिकों के डेटा की सुरक्षा कैसे सुनिश्चित की जाए। सर्वोच्च न्यायालय ने 'के. एस. पुट्टस्वामी बनाम भारत संघ' (2017) मामले में निजता को मौलिक अधिकार घोषित करते हुए यह स्पष्ट किया कि डिजिटल शासन नागरिक स्वतंत्रताओं से अलग नहीं हो सकता। इस निर्णय ने ई-शासन और संवैधानिक अधिकारों के संबंध को नई दिशा प्रदान की।

निगरानी (Surveillance) की बढ़ती प्रवृत्ति भी आधुनिक डिजिटल शासन की आलोचना का विषय बनी है। आलोचकों का मत है कि यदि राज्य अत्यधिक डिजिटल नियंत्रण और डेटा-संग्रह पर निर्भर हो जाए, तो नागरिक स्वतंत्रता और लोकतांत्रिक अधिकार प्रभावित हो सकते हैं। तकनीकी अवसंरचना की असमानता भी ई-शासन की एक व्यावहारिक समस्या है। अनेक क्षेत्रों में इंटरनेट की धीमी गति, बिजली की समस्या और तकनीकी संसाधनों की कमी प्रशासनिक सेवाओं की गुणवत्ता को प्रभावित करती है।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि केवल तकनीक का उपयोग प्रशासनिक सुधार की गारंटी नहीं देता। यदि संस्थागत भ्रष्टाचार, प्रशासनिक उदासीनता और नीति-क्रियान्वयन की समस्याएँ बनी रहें, तो डिजिटल प्रणाली भी सीमित प्रभाव ही उत्पन्न कर पाएगी।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से ई-शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौती यह है कि तकनीक और लोकतंत्र के बीच संतुलन कैसे स्थापित किया जाए। तकनीक प्रशासन को दक्ष बना सकती है, किन्तु यदि शासन अत्यधिक तकनीकी और केंद्रीकृत हो जाए, तो नागरिक सहभागिता और मानवीय संवेदनशीलता कमजोर हो सकती है।

इसी कारण अनेक विद्वान यह तर्क देते हैं कि ई-शासन को केवल तकनीकी परियोजना के रूप में नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक शासन की व्यापक प्रक्रिया के रूप में समझा जाना चाहिए। डिजिटल प्रशासन तभी प्रभावी होगा जब वह पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, नागरिक अधिकार और सामाजिक समावेशन के सिद्धांतों के साथ संतुलित हो।

इस प्रकार ई-शासन आधुनिक प्रशासनिक सुधारों की अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसने शासन को अधिक तेज, पारदर्शी और नागरिक-केंद्रित बनाने की संभावनाएँ उत्पन्न की हैं, किन्तु इसके साथ नई सामाजिक, तकनीकी और लोकतांत्रिक चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि तकनीकी प्रगति और नागरिक अधिकारों के बीच संतुलन किस प्रकार स्थापित किया जाता है।

2.11 शासन, नागरिक सहभागिता एवं उत्तरदायित्व

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषताओं में से एक नागरिक सहभागिता (Citizen Participation) है। पारंपरिक शासन-व्यवस्था में नागरिकों की भूमिका मुख्यतः मतदाता तक सीमित मानी जाती थी, किन्तु समकालीन लोकतांत्रिक सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि लोकतंत्र केवल चुनावों के माध्यम से

संचालित नहीं हो सकता। शासन को प्रभावी, उत्तरदायी और वैध बनाने के लिए नागरिकों की निरंतर भागीदारी आवश्यक है।

शासन और नागरिक सहभागिता के संबंध को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि आधुनिक लोकतंत्र में राज्य और समाज के संबंधों की प्रकृति बदल चुकी है। पहले शासन मुख्यतः ऊपर से नीचे (Top to down) नियंत्रण की प्रक्रिया माना जाता था, जिसमें सरकार निर्णय लेती थी और नागरिक उन निर्णयों का पालन करते थे। किन्तु आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में नागरिकों को केवल प्रशासनिक निर्णयों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता के रूप में नहीं, बल्कि नीति-निर्माण और सार्वजनिक विमर्श के सक्रिय सहभागी के रूप में देखा जाता है।

डेविड क्रो ने अपने लेख 'हाउ सिटिज़न्स इंटरैक्ट विद देयर गवर्नमेंट एंड व्हाय वी केयर' (*How Citizens Interact with Their Government and Why We Care*) में यह स्पष्ट किया कि नागरिकों और शासन के मध्य प्रत्यक्ष संवाद लोकतांत्रिक वैधता को मजबूत करता है। यदि नागरिक शासन-प्रक्रिया से अलग-थलग हो जाएँ, तो लोकतांत्रिक संस्थाओं पर विश्वास कमजोर पड़ सकता है। गेब्रियल आल्मंड और सिडनी वर्बा ने 'द सिविक कल्चर' (*The Civic Culture*) में यह तर्क दिया कि लोकतंत्र की सफलता केवल संवैधानिक संस्थाओं पर निर्भर नहीं करती, बल्कि नागरिकों की राजनीतिक संस्कृति और सहभागिता पर भी निर्भर करती है। सक्रिय नागरिक संस्कृति लोकतंत्र को स्थिर और उत्तरदायी बनाती है।

नागरिक सहभागिता के अनेक रूप हो सकते हैं। मतदान लोकतांत्रिक भागीदारी का सबसे बुनियादी माध्यम है, किन्तु आधुनिक लोकतंत्र इससे आगे बढ़ चुका है। जनसुनवाई, सामाजिक आंदोलन, सार्वजनिक परामर्श, नागरिक मंच, जनहित याचिका, सामाजिक अंकेक्षण और डिजिटल अभियानों के माध्यम से भी नागरिक शासन को प्रभावित करते हैं।

भारतीय संदर्भ में सूचना का अधिकार आंदोलन नागरिक सहभागिता का महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है। राजस्थान में मजदूर किसान शक्ति संगठन (MKSS) द्वारा प्रारंभ किए गए जन-अभियानों ने प्रशासनिक पारदर्शिता और सार्वजनिक उत्तरदायित्व के प्रश्न को राष्ट्रीय विमर्श का विषय बनाया। इसी आंदोलन ने आगे चलकर सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 की पृष्ठभूमि तैयार की।

सामाजिक अंकेक्षण (Social Audit) भी नागरिक सहभागिता और उत्तरदायित्व का प्रभावशाली माध्यम है। विशेष रूप से मनरेगा (MGNREGA) जैसी योजनाओं में सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया ने नागरिकों को सरकारी व्यय और योजना-क्रियान्वयन की निगरानी का अवसर प्रदान किया। इससे यह सिद्ध हुआ कि नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी शासन को अधिक पारदर्शी और उत्तरदायी बना सकती है।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण भी नागरिक सहभागिता से गहराई से जुड़ा हुआ है। 73वें और 74वें संविधान संशोधनों ने पंचायती राज संस्थाओं और शहरी स्थानीय निकायों को संवैधानिक आधार प्रदान किया। ग्राम सभा को स्थानीय लोकतंत्र की आधारभूत इकाई माना गया जहाँ नागरिक सीधे विकास और प्रशासनिक निर्णयों में भाग ले सकते हैं।

हालाँकि व्यावहारिक स्तर पर नागरिक सहभागिता अनेक चुनौतियों से भी प्रभावित होती है। सामाजिक असमानता, गरीबी, अशिक्षा और राजनीतिक वर्चस्व कई बार लोकतांत्रिक भागीदारी को सीमित कर देते हैं। समाज के कमजोर वर्ग औपचारिक रूप से राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने के बावजूद शासन-प्रक्रिया में प्रभावी हस्तक्षेप नहीं कर पाते।

इसी कारण लोकतांत्रिक शासन में "inclusive participation" अर्थात समावेशी सहभागिता पर विशेष बल दिया जाता है। यदि शासन केवल शिक्षित, आर्थिक रूप से सक्षम या प्रभावशाली समूहों तक सीमित हो जाए, तो लोकतंत्र की वास्तविक भावना कमजोर हो जाती है। शासन में उत्तरदायित्व (Accountability) की अवधारणा नागरिक सहभागिता से गहराई से जुड़ी हुई है। उत्तरदायित्व का अर्थ है कि सरकार और प्रशासन अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति जवाबदेह हों। लोकतंत्र में शक्ति का प्रयोग निरंकुश नहीं हो सकता; उसे संवैधानिक और सार्वजनिक नियंत्रण के अधीन होना चाहिए।

उत्तरदायित्व के विभिन्न आयाम होते हैं। संसदीय उत्तरदायित्व के अंतर्गत सरकार संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। न्यायिक उत्तरदायित्व के अंतर्गत न्यायपालिका प्रशासनिक निर्णयों की संवैधानिक समीक्षा कर सकती है। प्रशासनिक उत्तरदायित्व के अंतर्गत सरकारी अधिकारी नियमों और संस्थागत नियंत्रण के अधीन कार्य करते हैं।इसके अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Accountability) की अवधारणा भी आधुनिक शासन में महत्त्वपूर्ण बन गई है। इसमें मीडिया, नागरिक समाज, जनसंगठन और नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन की निगरानी करते हैं। सूचना का अधिकार, सामाजिक अंकेक्षण और सार्वजनिक सुनवाई इसी सामाजिक उत्तरदायित्व के उदाहरण हैं।

ई-गवर्नेंस और डिजिटल तकनीक ने नागरिक सहभागिता और उत्तरदायित्व के नए आयाम उत्पन्न किए हैं। ऑनलाइन शिकायत प्रणाली, सोशल मीडिया, डिजिटल जनसुनवाई और सार्वजनिक डेटा प्लेटफ़ॉर्म ने नागरिकों को शासन से सीधे संवाद करने का अवसर प्रदान किया है।

उदाहरण के लिए "मायगव" (MyGov) प्लेटफ़ॉर्म नागरिकों को नीतिगत सुझाव देने और सार्वजनिक अभियानों में भाग लेने का अवसर देता है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों की ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणालियाँ प्रशासनिक उत्तरदायित्व को मजबूत करने का प्रयास करती हैं।

किन्तु डिजिटल सहभागिता की भी सीमाएँ हैं। सोशल मीडिया कई बार गलत सूचना, ध्रुवीकरण और सतही राजनीतिक विमर्श को बढ़ावा देता है। इसके अतिरिक्त डिजिटल विभाजन के कारण समाज के सभी वर्ग समान रूप से ऑनलाइन सहभागिता नहीं कर पाते।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से नागरिक सहभागिता केवल प्रशासनिक तकनीक नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक संस्कृति का आधार है। जीन-जाक रूसो ने नागरिक सहभागिता को लोकतंत्र की आत्मा माना था। आधुनिक सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy) के सिद्धांत भी इसी विचार को आगे बढ़ाते हैं कि नागरिकों को शासन की प्रक्रिया में सक्रिय और निरंतर भाग लेना चाहिए।

भारतीय लोकतंत्र में नागरिक सहभागिता और उत्तरदायित्व की संभावनाएँ अत्यंत व्यापक हैं क्योंकि यहाँ सक्रिय मीडिया, स्वतंत्र न्यायपालिका, नागरिक समाज और लोकतांत्रिक आंदोलनों की समृद्ध परंपरा मौजूद है।

फिर भी यह आवश्यक है कि शासन केवल औपचारिक लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं तक सीमित न रहे, बल्कि वास्तविक सामाजिक समावेशन, सार्वजनिक पारदर्शिता और नागरिक सशक्तिकरण को भी सुनिश्चित करे।

इस प्रकार शासन, नागरिक सहभागिता और उत्तरदायित्व आधुनिक लोकतंत्र के परस्पर जुड़े हुए तत्व हैं। प्रभावी शासन केवल प्रशासनिक दक्षता से संभव नहीं है; उसके लिए जागरूक नागरिकता, पारदर्शी संस्थाएँ और उत्तरदायी प्रशासन समान रूप से आवश्यक हैं।

2.12 समकालीन संदर्भ एवं आलोचनात्मक विमर्श

समकालीन विश्व में शासन की अवधारणा अत्यंत जटिल और बहुआयामी बन चुकी है। वैश्वीकरण, नवउदारवाद, सूचना प्रौद्योगिकी, अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं की बढ़ती भूमिका तथा नागरिक समाज के विस्तार ने शासन की पारंपरिक संरचनाओं को गहराई से प्रभावित किया है। अब शासन केवल राज्य की प्रशासनिक गतिविधि नहीं माना जाता, बल्कि यह शक्ति, संसाधनों और निर्णय-निर्माण की बहुस्तरीय प्रक्रिया के रूप में समझा जाता है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में वैश्वीकरण के विस्तार के साथ शासन की प्रकृति में व्यापक परिवर्तन आया। आर्थिक उदारीकरण और वैश्विक बाज़ार व्यवस्था ने राष्ट्रीय राज्यों की नीतियों को अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं और वैश्विक आर्थिक संरचनाओं से अधिक गहराई से जोड़ दिया। विश्व बैंक, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF), विश्व व्यापार संगठन (WTO) और बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ विकासशील देशों की नीतियों को प्रभावित करने लगीं।

इसी संदर्भ में एड्रियन लेफ्टविच ने यह प्रश्न उठाया कि क्या "सुशासन" की अवधारणा वास्तव में लोकतांत्रिक विकास को प्रोत्साहित करती है, या फिर यह वैश्विक आर्थिक संस्थाओं की नीति-प्राथमिकताओं का विस्तार है। आलोचकों का मत है कि कई बार "सुशासन" (Good Governance) को मुख्यतः आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण और बाज़ार-उन्मुख प्रशासन से जोड़ दिया जाता है।

नवउदारवादी शासन (Neoliberal Governance) की आलोचना करते हुए कई विद्वानों ने कहा कि यदि शासन केवल दक्षता, प्रतिस्पर्धा और बाज़ार-तर्क पर आधारित हो जाए, तो सामाजिक न्याय और कल्याणकारी राज्य की अवधारणा कमजोर पड़ सकती है। सार्वजनिक सेवाओं का अत्यधिक निजीकरण शिक्षा, स्वास्थ्य और सामाजिक सुरक्षा जैसी बुनियादी सुविधाओं को असमान बना सकता है।

समकालीन शासन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता डिजिटल तकनीक का विस्तार है। डिजिटल शासन, कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artificial Intelligence), डेटा विश्लेषण और ऑनलाइन प्रशासनिक संरचनाओं ने शासन की कार्यप्रणाली को व्यापक रूप से बदल दिया है।

डिजिटल तकनीक ने शासन को अधिक तेज, पारदर्शी और सुलभ बनाने की संभावनाएँ उत्पन्न की हैं। ऑनलाइन सेवाएँ, डिजिटल भुगतान, ई-फाइल प्रणाली और डेटा-आधारित प्रशासन ने नीति-क्रियान्वयन को अधिक समन्वित बनाने का प्रयास किया।

किन्तु डिजिटल शासन के साथ गंभीर आलोचनात्मक प्रश्न भी जुड़े हुए हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न निजता (Privacy) और निगरानी (Surveillance) का है। आधुनिक राज्य और तकनीकी संस्थाएँ नागरिकों की विशाल मात्रा में डिजिटल सूचनाओं का संग्रह करती हैं। इससे यह आशंका उत्पन्न होती है कि कहीं शासन अत्यधिक निगरानी-आधारित व्यवस्था में परिवर्तित न हो जाए।

मिशेल फूको के "निगरानी" संबंधी विश्लेषण को आधुनिक डिजिटल शासन के संदर्भ में पुनः महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। फूको ने शक्ति को केवल दमनकारी नहीं, बल्कि निगरानी और अनुशासन के माध्यम से कार्य करने वाली प्रक्रिया के रूप में समझाया था। डिजिटल शासन के संदर्भ में यह तर्क दिया जाता है कि डेटा-संग्रह और एल्गोरिथ्मिक नियंत्रण नागरिकों के व्यवहार को प्रभावित कर सकते हैं।

भारत में आधार, डिजिटल पहचान और डेटा-संग्रह से संबंधित बहसों ने इन प्रश्नों को और अधिक महत्त्वपूर्ण बना दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने 'के.एस. पुट्टस्वामी बनाम भारत संघ' (2017) मामले में निजता को मौलिक अधिकार घोषित करते हुए यह स्पष्ट किया कि डिजिटल शासन संवैधानिक अधिकारों से अलग नहीं हो सकता।

समकालीन शासन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण विमर्श नागरिक समाज (Civil Society) की भूमिका से जुड़ा है। आधुनिक लोकतंत्र में नागरिक समाज को राज्य और नागरिकों के बीच मध्यस्थ क्षेत्र के रूप में देखा जाता है। गैर-सरकारी संगठन, सामाजिक आंदोलन, मीडिया और जन-अभियान शासन को अधिक उत्तरदायी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भारत में सूचना का अधिकार आंदोलन, भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन और पर्यावरणीय जन-अभियान नागरिक समाज की सक्रिय भूमिका के प्रमुख उदाहरण हैं।

हालाँकि नागरिक समाज की भूमिका पर भी आलोचनात्मक प्रश्न उठाए गए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कई गैर-सरकारी संगठन अंतरराष्ट्रीय वित्तीय स्रोतों और शहरी मध्यवर्गीय दृष्टिकोण से प्रभावित होते हैं, जिसके कारण वे हमेशा समाज के सबसे वंचित वर्गों का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते।

समकालीन शासन में "भागीदारी" (Participation) की अवधारणा भी व्यापक रूप से विकसित हुई है। सहभागी शासन (Participatory Governance) यह मानता है कि नागरिकों को केवल मतदाता के रूप में नहीं, बल्कि नीति-निर्माण और प्रशासनिक प्रक्रियाओं के सक्रिय सहभागी के रूप में देखा जाना चाहिए।

जनसुनवाई, सामाजिक अंकेक्षण, ग्राम सभा और डिजिटल परामर्श मंच इसी सहभागी शासन के उदाहरण हैं।

किन्तु व्यावहारिक स्तर पर सहभागी शासन की अपनी सीमाएँ हैं। सामाजिक असमानता, राजनीतिक वर्चस्व और आर्थिक विषमता कई बार लोकतांत्रिक सहभागिता को सीमित कर देती हैं। समाज के कमजोर वर्ग औपचारिक रूप से भागीदारी का अधिकार प्राप्त होने के बावजूद वास्तविक निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में प्रभावी हस्तक्षेप नहीं कर पाते।

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में यह बहस भी महत्त्वपूर्ण है कि शासन और लोकतंत्र के बीच संबंध किस प्रकार स्थापित किया जाए। कुछ विद्वानों का मत है कि तकनीकी दक्षता और प्रशासनिक विशेषज्ञता पर अत्यधिक बल देने से लोकतांत्रिक विमर्श कमजोर हो सकता है। यदि शासन केवल "प्रबंधन" (Management) तक सीमित हो जाए, तो नागरिकों की राजनीतिक भूमिका घट सकती है।

इसी कारण लोकतांत्रिक शासन की अवधारणा प्रशासनिक दक्षता और जनसहभागिता के बीच संतुलन स्थापित करने पर बल देती है। शासन केवल नीति-क्रियान्वयन की तकनीकी प्रक्रिया नहीं, बल्कि लोकतांत्रिक वैधता, सामाजिक न्याय और सार्वजनिक उत्तरदायित्व की संरचना भी है।

भारतीय संदर्भ में समकालीन शासन की चुनौतियाँ विशेष रूप से जटिल हैं। एक ओर डिजिटल प्रशासन, ई-गवर्नेंस और विकास परियोजनाओं का विस्तार हो रहा है, वहीं दूसरी ओर सामाजिक असमानता, डिजिटल विभाजन, प्रशासनिक भ्रष्टाचार और राजनीतिक ध्रुवीकरण जैसी समस्याएँ भी मौजूद हैं।

इस प्रकार समकालीन शासन का विमर्श केवल प्रशासनिक सुधारों तक सीमित नहीं है। यह लोकतंत्र, तकनीक, शक्ति, नागरिक अधिकार, सामाजिक न्याय और वैश्विक राजनीति से जुड़ा व्यापक राजनीतिक प्रश्न बन चुका है।

2.13 तुलनात्मक सारणी

आधार	सरकार (Government)	शासन (Governance)
प्रकृति	औपचारिक राजनीतिक संस्था	व्यापक प्रशासनिक एवं सामाजिक प्रक्रिया
केंद्र	राज्य और प्रशासन	राज्य, बाजार और नागरिक समाज
शक्ति का स्वरूप	विधिक एवं केंद्रीकृत	बहुस्तरीय एवं नेटवर्क आधारित
सहभागिता	सीमित	व्यापक एवं सहभागी
उद्देश्य	प्रशासन और नियंत्रण	समन्वय, सेवा वितरण और उत्तरदायित्व

आधार	पारंपरिक शासन	सुशासन
प्रशासनिक शैली	केंद्रीकृत और नौकरशाही आधारित	पारदर्शी और नागरिक-केंद्रित
नागरिक भूमिका	निष्क्रिय	सक्रिय सहभागी
प्राथमिकता	नियंत्रण और नियम	उत्तरदायित्व और सेवा
पारदर्शिता	सीमित	अत्यधिक महत्त्वपूर्ण
उत्तरदायित्व	औपचारिक	सार्वजनिक एवं सामाजिक

आधार	सुशासन	ई-शासन
प्रकृति	आदर्श शासन-व्यवस्था	तकनीक आधारित प्रशासन
मुख्य उद्देश्य	पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, न्याय	दक्षता और सेवा वितरण
उपकरण	संस्थागत सुधार	सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी
नागरिक सहभागिता	प्रत्यक्ष एवं सामाजिक	डिजिटल एवं ऑनलाइन
सीमाएँ	संस्थागत कमजोरी	डिजिटल विभाजन और डेटा-सुरक्षा

2.14 अभ्यास प्रश्न

1. शासन (Governance) की अवधारणा का अर्थ एवं प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
2. शासन और सरकार में अंतर का विश्लेषण कीजिए।
3. शासन के प्रमुख सिद्धांतों और मॉडलों का विवेचन कीजिए।

4. लोकतंत्र और शासन के संबंध की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. सुशासन (Good Governance) की अवधारणा एवं विशेषताओं का विश्लेषण कीजिए।
6. भारत में सुशासन की प्रमुख चुनौतियों पर चर्चा कीजिए।
7. ई-शासन (E-Governance) की अवधारणा एवं विकास का विवेचन कीजिए।
8. भारत में ई-शासन की प्रमुख पहलों का मूल्यांकन कीजिए।
9. ई-शासन की उपलब्धियों एवं सीमाओं का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
10. शासन, नागरिक सहभागिता और उत्तरदायित्व के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

2.15 संदर्भ-सूची

- अल्मंड, गैब्रियल एवं वर्बा, सिडनी. (1963). द *सिविक कल्चर : पॉलिटिकल एटिट्यूड्स एंड डेमोक्रेसी इन फाइव नेशन्स* (*The Civic Culture: Political Attitudes and Democracy in Five Nations*). प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
- करी, बॉब. (1996). "गवर्नेंस, डेमोक्रेसी एंड इकोनॉमिक एडजस्टमेंट इन इंडिया : कॉन्सेप्चुअल एंड एम्पिरिकल प्रॉब्लम्स" (*Governance, Democracy and Economic Adjustment in India: Conceptual and Empirical Problems*). *थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली* (*Third World Quarterly*), 17(4), 787–807।
- क्राउ, डेविड. (2009). "हाउ सिटिज़न्स इंटरैक्ट विद देयर गवर्नमेंट एंड व्हाय वी केयर" (*How Citizens Interact with Their Government and Why We Care*). *पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन रिव्यू* (*Public Administration Review*), 69(2), 353–355।
- फॉर, डी. एल. (2012). *फ्रॉम बिग गवर्नमेंट टू बिग गवर्नेंस?* (*From "Big Government" to "Big Governance"?*). ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- फ्रेडरिक्सन, एच. जॉर्ज एवं अन्य. (2015). *थियरीज़ ऑफ गवर्नेंस इन द पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन थ्योरी प्राइमर* (*Theories of Governance in The Public Administration Theory Primer*). बोल्डर: वेस्टव्यू प्रेस।
- केपिंग, यू. (2018). "गवर्नेंस एंड गुड गवर्नेंस : ए न्यू फ्रेमवर्क फॉर पॉलिटिकल एनालिसिस" (*Governance and Good Governance: A New Framework for Political Analysis*). *फुदान जर्नल ऑफ द ह्यूमैनिटीज एंड सोशल साइंसेज़* (*Fudan Journal of the Humanities and Social Sciences*), 11(1), 1–8।
- लेफ्टविच, एड्रियन. (1993). "गवर्नेंस, डेमोक्रेसी एंड डेवलपमेंट इन द थर्ड वर्ल्ड" (*Governance, Democracy and Development in the Third World*). *थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली* (*Third World Quarterly*), 14(3), 605–624।
- लेफ्टविच, एड्रियन. (1994). "गवर्नेंस, द स्टेट एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपमेंट" (*Governance, the State and the Politics of Development*). *डेवलपमेंट एंड चेंज* (*Development and Change*), 25(2), 363–386।

- पॉल, सैमुअल एवं अन्य. (2004). "स्टेट ऑफ इंडिया'ज़ पब्लिक सर्विसेज : बेंचमार्क्स फॉर द स्टेट्स" (*State of India's Public Services: Benchmarks for the States*). *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (*Economic and Political Weekly*), 39(9), 920–933।
- रागी, एस. के. (2019). *सिटिज़नशिप एंड गवर्नेंस* (*Citizenship and Governance*). नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट।
- सक्सेना, अरुण. (2005). "ई-गवर्नेंस एंड गुड गवर्नेंस : द इंडियन कॉन्टेक्स्ट" (*E-Governance and Good Governance: The Indian Context*). *द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस* (*The Indian Journal of Political Science*), 66(2), 313–328।
- यादव, एस. (2009). "इम्प्लीमेंटिंग ई-गवर्नेंस इन इंडिया : एक्सप्लोरिंग द एडमिनिस्ट्रेटिव रिफॉर्म्स एजेंडा" (*Implementing E-Governance in India: Exploring the Administrative Reforms Agenda*). *द इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस* (*The Indian Journal of Political Science*), 70(3), 679–692।

उत्तरदायित्व : भारत में नागरिकता एवं शासन

संरचना

3.1 अधिगम उद्देय

3.2 प्रस्तावना

3.3 उत्तरदायित्व (Accountability) : अर्थ एवं अवधारणा

3.4 लोकतंत्र, नागरिकता और उत्तरदायी शासन

3.5 नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter) : अवधारणा एवं विकास

3.6 भारत में नागरिक अधिकार पत्र : विशेषताएँ, उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ

3.7 सूचना का अधिकार (Right to Information – RTI) : अर्थ एवं विकास

3.8 सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 : प्रमुख प्रावधान

3.9 सुशासन और पारदर्शिता में RTI की भूमिका

3.10 उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम : अवधारणा एवं विकास

3.11 उपभोक्ता अधिकार और उपभोक्ता न्याय व्यवस्था

3.12 सामाजिक अंकेक्षण (Social Audit) : अर्थ, प्रक्रिया एवं महत्त्व

3.13 भारत में सामाजिक अंकेक्षण : विशेष संदर्भ मनरेगा

3.14 लोकपाल और लोकायुक्त : अवधारणा एवं विकास

3.15 लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम : संरचना एवं कार्य

3.16 उत्तरदायी शासन की चुनौतियाँ एवं समकालीन विमर्श

3.17 तुलनात्मक सारणी

3.18 अभ्यास प्रश्न

3.19 संदर्भ-सूची

3.1 अधिगम उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी–

- लोकतांत्रिक शासन में उत्तरदायित्व के अर्थ और महत्त्व की व्याख्या कर पाएँगे।
- नागरिक चार्टर और सूचना का अधिकार अधिनियम की प्रमुख विशेषताओं को समझ पाएँगे।
- उपभोक्ता संरक्षण और सामाजिक अंकेक्षण की भूमिका का विश्लेषण कर पाएँगे।
- लोकपाल एवं लोकायुक्त की संरचना, कार्य और उपयोगिता का विवेचन कर पाएँगे।

- पारदर्शी एवं उत्तरदायी शासन की स्थापना में नागरिकों और संस्थाओं की भूमिका का मूल्यांकन कर पाएँगे।

3.2 प्रस्तावना

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था में उत्तरदायित्व (Accountability) की अवधारणा अत्यंत केंद्रीय महत्त्व रखती है। लोकतंत्र केवल चुनावों और प्रतिनिधियों के चयन की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें शासन जनता के प्रति उत्तरदायी, पारदर्शी और नियंत्रित रहता है। यदि शासन-व्यवस्था में उत्तरदायित्व का अभाव हो, तो शक्ति के केंद्रीकरण, भ्रष्टाचार, प्रशासनिक मनमानी और नागरिक अधिकारों के हनन की संभावना बढ़ जाती है।

समकालीन राजनीतिक विज्ञान और लोक प्रशासन में यह व्यापक रूप से स्वीकार किया गया है कि प्रभावी शासन केवल प्रशासनिक दक्षता से संभव नहीं है। शासन को वैधता तब प्राप्त होती है जब नागरिकों को यह विश्वास हो कि सार्वजनिक संस्थाएँ उनके प्रति उत्तरदायी हैं और सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग जनहित में किया जा रहा है। इसी कारण उत्तरदायित्व आधुनिक सुशासन (Good Governance) की आधारभूत शर्त माना जाता है।

डेविड क्रो ने अपने अध्ययन **'हाउ सिटिज़न्स इंटरैक्ट विद देयर गवर्नमेंट एंड व्हाय वी केयर'** (How Citizens Interact with Their Government and Why We Care) में यह स्पष्ट किया कि नागरिकों और शासन के मध्य सक्रिय संवाद लोकतांत्रिक वैधता को सुदृढ़ करता है। यदि नागरिक शासन-प्रक्रिया से अलग-थलग हो जाएँ, तो लोकतांत्रिक संस्थाओं के प्रति विश्वास कमजोर पड़ सकता है।

भारत जैसे विशाल लोकतांत्रिक और बहुलतावादी समाज में उत्तरदायित्व की अवधारणा विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संविधान ने लोकतंत्र, विधि का शासन, मौलिक अधिकार और सामाजिक न्याय की व्यवस्था स्थापित की, किन्तु प्रशासनिक भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, संसाधनों की असमानता और नीति-क्रियान्वयन की समस्याओं ने शासन की गुणवत्ता को चुनौती दी। इसी पृष्ठभूमि में नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter), सूचना का अधिकार (Right to Information), सामाजिक अंकेक्षण (Social Audit), लोकपाल और लोकायुक्त जैसी व्यवस्थाओं का विकास हुआ। इनका उद्देश्य शासन को अधिक पारदर्शी, नागरिक-केंद्रित और उत्तरदायी बनाना था। उत्तरदायी शासन का संबंध केवल प्रशासनिक नियंत्रण से नहीं है। यह नागरिक सहभागिता, लोकतांत्रिक संस्कृति और सार्वजनिक नैतिकता से भी जुड़ा हुआ है। आधुनिक शासन-सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि नागरिक केवल प्रशासनिक निर्णयों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता नहीं हैं, बल्कि वे शासन की प्रक्रिया के सक्रिय सहभागी भी हैं।

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 ने भारतीय लोकतंत्र में प्रशासनिक पारदर्शिता की नई संस्कृति विकसित की। इसी प्रकार सामाजिक अंकेक्षण ने नागरिकों को सरकारी योजनाओं की निगरानी का अवसर प्रदान किया। लोकपाल और लोकायुक्त जैसी संस्थाओं का उद्देश्य उच्च स्तर के भ्रष्टाचार पर नियंत्रण स्थापित करना था। समकालीन समय में डिजिटल शासन और ई-गवर्नेंस ने उत्तरदायित्व की अवधारणा को और अधिक व्यापक बना दिया है। ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणाली, डिजिटल अभिलेख, सार्वजनिक सूचना पोर्टल और सोशल मीडिया आधारित संवाद ने शासन और नागरिकों के संबंध को नई दिशा प्रदान की है। किन्तु उत्तरदायित्व की प्रक्रिया चुनौतियों से मुक्त नहीं है। राजनीतिक हस्तक्षेप, संस्थागत कमजोरी, प्रशासनिक जटिलता, सूचना तक सीमित पहुँच और सामाजिक असमानता जैसे कारक कई बार उत्तरदायी शासन की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं।

इस इकाई में उत्तरदायित्व की अवधारणा, लोकतांत्रिक शासन में उसकी भूमिका तथा भारत में विकसित विभिन्न संस्थागत व्यवस्थाओं का अध्ययन किया जाएगा। विशेष रूप से नागरिक अधिकार पत्र, सूचना का अधिकार, उपभोक्ता संरक्षण, सामाजिक अंकेक्षण तथा लोकपाल-लोकायुक्त जैसी व्यवस्थाओं का विश्लेषण किया जाएगा ताकि यह समझा जा सके कि आधुनिक लोकतंत्र में शासन को उत्तरदायी बनाने के लिए किन तंत्रों का विकास किया गया है।

3.3 उत्तरदायित्व (Accountability) : अर्थ एवं अवधारणा

उत्तरदायित्व (Accountability) आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की आधारभूत अवधारणाओं में से एक है। सामान्य अर्थ में उत्तरदायित्व का तात्पर्य उस स्थिति से है जिसमें कोई व्यक्ति, संस्था अथवा सार्वजनिक अधिकारी अपने कार्यों, निर्णयों और नीतियों के लिए जनता अथवा किसी वैधानिक प्राधिकरण के प्रति जवाबदेह होता है। लोकतांत्रिक शासन में शक्ति का प्रयोग निरंकुश रूप से नहीं किया जा सकता। शासन-व्यवस्था को विधि, संविधान और जनता के प्रति उत्तरदायी रहना पड़ता है। इसी कारण उत्तरदायित्व लोकतंत्र और सुशासन की केंद्रीय शर्त माना जाता है। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से उत्तरदायित्व का संबंध वैधता (Legitimacy) से भी है। यदि नागरिकों को यह विश्वास न हो कि शासन उनके प्रति जवाबदेह है, तो लोकतांत्रिक संस्थाओं की विश्वसनीयता कमजोर हो सकती है।

'ब्रिंगिंग गवर्नमेंट्स बैक इन गवर्नेंस एंड गवर्निंग इन कम्पेरेटिव पॉलिसी एनालिसिस' (Bringing Governments Back in Governance and Governing in Comparative Policy Analysis) में गिउलिओ कैपानो ने यह तर्क दिया कि आधुनिक शासन की जटिल संरचनाओं में उत्तरदायित्व की प्रक्रिया और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि नीति-निर्माण में अनेक संस्थाएँ और हितसमूह शामिल होते हैं।

उत्तरदायित्व केवल प्रशासनिक प्रक्रिया नहीं है। यह लोकतांत्रिक नैतिकता, सार्वजनिक विश्वास और नागरिक अधिकारों से जुड़ी व्यापक अवधारणा है। आधुनिक शासन-व्यवस्था में उत्तरदायित्व के विभिन्न आयाम माने जाते हैं। राजनीतिक उत्तरदायित्व (Political Accountability) के अंतर्गत सरकार संसद और जनता के प्रति उत्तरदायी होती है। चुनाव, संसदीय बहस और सार्वजनिक विमर्श इस प्रक्रिया को नियंत्रित करते हैं। यदि सरकार जनता की अपेक्षाओं को पूरा न करे, तो लोकतांत्रिक व्यवस्था में उसे चुनावों के माध्यम से सत्ता से हटाया जा सकता है। प्रशासनिक उत्तरदायित्व (Administrative Accountability) नौकरशाही और प्रशासनिक संस्थाओं से संबंधित है। सरकारी अधिकारी नियमों, प्रक्रियाओं और संस्थागत नियंत्रण के अधीन कार्य करते हैं। विभागीय जाँच, प्रशासनिक निगरानी और लेखा परीक्षण इसी प्रक्रिया का हिस्सा हैं।

न्यायिक उत्तरदायित्व (Judicial Accountability) का संबंध न्यायपालिका की संवैधानिक भूमिका से है। न्यायपालिका शासन के कार्यों की संवैधानिक समीक्षा कर सकती है तथा नागरिक अधिकारों की रक्षा सुनिश्चित करती है। भारत में न्यायिक पुनरावलोकन (Judicial Review) को लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व का महत्त्वपूर्ण उपकरण माना जाता है। इसके अतिरिक्त सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Accountability) की अवधारणा भी आधुनिक शासन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बन चुकी है। इसमें मीडिया, नागरिक समाज, सामाजिक आंदोलन और नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन की निगरानी करते हैं। सूचना का अधिकार, सामाजिक अंकेक्षण और जनसुनवाई इसी सामाजिक उत्तरदायित्व के उदाहरण हैं। लोकतांत्रिक शासन में उत्तरदायित्व का संबंध पारदर्शिता (Transparency) से भी गहराई से जुड़ा हुआ है। यदि प्रशासनिक निर्णय और सरकारी प्रक्रियाएँ गोपनीय रहें, तो जनता शासन की समीक्षा नहीं कर सकती। इसी कारण आधुनिक लोकतंत्रों में सूचना तक पहुँच को नागरिक अधिकार के रूप में देखा जाने लगा है। भारतीय संदर्भ में लंबे समय तक प्रशासनिक संरचना औपनिवेशिक परंपरा

से प्रभावित रही, जहाँ गोपनीयता और केंद्रीकरण को अधिक महत्त्व दिया जाता था। स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक शासन की स्थापना के बावजूद प्रशासनिक अपारदर्शिता और भ्रष्टाचार गंभीर समस्या बने रहे।

इसी पृष्ठभूमि में प्रशासनिक सुधारों और उत्तरदायित्व संबंधी व्यवस्थाओं की आवश्यकता महसूस की गई। सूचना का अधिकार अधिनियम, नागरिक अधिकार पत्र, सामाजिक अंकेक्षण और लोकपाल जैसी व्यवस्थाएँ इसी प्रक्रिया का परिणाम हैं। उत्तरदायित्व की अवधारणा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष नागरिक सहभागिता भी है। यदि नागरिक शासन-प्रक्रिया में सक्रिय भाग न लें, तो उत्तरदायित्व केवल औपचारिक व्यवस्था बनकर रह सकता है। इसी कारण सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy) के सिद्धांत नागरिकों की निरंतर भागीदारी पर बल देते हैं। समकालीन समय में डिजिटल तकनीक ने उत्तरदायित्व की प्रक्रिया को नई दिशा प्रदान की है। ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणाली, सार्वजनिक सूचना पोर्टल, सोशल मीडिया और डिजिटल निगरानी तंत्र ने शासन को अधिक उत्तरदायी बनाने की संभावनाएँ उत्पन्न की हैं।

हालाँकि तकनीक स्वयं उत्तरदायित्व की गारंटी नहीं है। यदि संस्थागत इच्छाशक्ति, प्रशासनिक नैतिकता और नागरिक जागरूकता का अभाव हो, तो केवल डिजिटल साधन प्रभावी उत्तरदायित्व स्थापित नहीं कर सकते। इस प्रकार उत्तरदायित्व आधुनिक लोकतंत्र की मूल आत्मा है। यह शासन को निरंकुश होने से रोकता है, नागरिक अधिकारों की रक्षा करता है तथा लोकतांत्रिक वैधता को सुदृढ़ करता है। प्रभावी उत्तरदायित्व के बिना न तो सुशासन संभव है और न ही लोकतांत्रिक विश्वास की स्थापना।

3.4 लोकतंत्र, नागरिकता और उत्तरदायी शासन

लोकतंत्र, नागरिकता और उत्तरदायी शासन आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था के परस्पर संबद्ध और परस्पर निर्भर तत्व हैं। लोकतंत्र केवल शासन की एक पद्धति नहीं है, बल्कि यह ऐसी व्यवस्था है जिसमें नागरिकों को राजनीतिक समानता, सहभागिता और अधिकार प्राप्त होते हैं। किन्तु लोकतांत्रिक व्यवस्था तभी प्रभावी मानी जाती है जब शासन जनता के प्रति उत्तरदायी, पारदर्शी और संवेदनशील हो। लोकतंत्र की मूल धारणा जनसत्ता (Popular Sovereignty) पर आधारित है। इसका अर्थ है कि राज्य की वैधता जनता की सहमति से उत्पन्न होती है। इसलिए लोकतांत्रिक शासन में सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है और उसके कार्यों की समीक्षा नागरिकों, संसद, न्यायपालिका तथा स्वतंत्र संस्थाओं द्वारा की जा सकती है।

आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत में नागरिकता (Citizenship) को केवल राज्य की कानूनी सदस्यता के रूप में नहीं देखा जाता। नागरिकता अधिकारों, कर्तव्यों और राजनीतिक सहभागिता की व्यापक अवधारणा है। टी. एच. मार्शल ने नागरिकता को नागरिक, राजनीतिक और सामाजिक अधिकारों के विकास की प्रक्रिया के रूप में समझाया। उनके अनुसार लोकतंत्र तभी सार्थक हो सकता है जब नागरिकों को केवल मतदान का अधिकार ही नहीं, बल्कि सामाजिक सुरक्षा, शिक्षा और सार्वजनिक अवसर भी प्राप्त हों।

लोकतंत्र और उत्तरदायी शासन के संबंध को समझने के लिए यह आवश्यक है कि शासन की प्रकृति को केवल प्रशासनिक दक्षता तक सीमित न किया जाए। यदि शासन प्रभावी तो हो, किन्तु नागरिक अधिकारों और सार्वजनिक उत्तरदायित्व की उपेक्षा करे, तो वह लोकतांत्रिक नहीं माना जा सकता। इसी कारण आधुनिक राजनीतिक विज्ञान में "लोकतांत्रिक शासन" (Democratic Governance) की अवधारणा विकसित हुई।

गैब्रियल आल्मंड और सिडनी वर्बा ने 'द सिविक कल्चर' (*The Civic Culture*) में यह तर्क दिया कि लोकतंत्र की सफलता केवल संवैधानिक संस्थाओं पर निर्भर नहीं करती, बल्कि नागरिक संस्कृति पर भी निर्भर करती है। यदि नागरिक सक्रिय, जागरूक और सहभागी हों, तो शासन अधिक उत्तरदायी बनता है। इसके विपरीत यदि

नागरिक राजनीतिक प्रक्रिया से उदासीन हो जाएँ, तो शासन में भ्रष्टाचार, केंद्रीकरण और शक्ति के दुरुपयोग की संभावना बढ़ जाती है। इसीलिए आधुनिक लोकतंत्रों में नागरिक सहभागिता को लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व का महत्त्वपूर्ण आधार माना जाता है।

भारत के संदर्भ में लोकतंत्र और उत्तरदायित्व का प्रश्न विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भारत एक विशाल, बहुलतावादी और सामाजिक रूप से विविध समाज है। भारतीय संविधान ने सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार, मौलिक अधिकार और लोकतांत्रिक संस्थाओं के माध्यम से नागरिकों को शासन-प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर प्रदान किया। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर भारतीय लोकतंत्र को अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ा। प्रशासनिक भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, संसाधनों की असमानता और राजनीतिक अपराधीकरण ने शासन की गुणवत्ता को प्रभावित किया। इसी कारण प्रशासनिक उत्तरदायित्व और पारदर्शिता को सुदृढ़ करने की आवश्यकता महसूस की गई।

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम था। इसने नागरिकों को सरकारी सूचनाओं तक पहुँच का अधिकार प्रदान किया और प्रशासनिक गोपनीयता की औपनिवेशिक परंपरा को चुनौती दी। इसी प्रकार नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter) ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया कि नागरिकों को सार्वजनिक सेवाओं के संदर्भ में कौन-कौन से अधिकार प्राप्त हैं और प्रशासन की क्या जिम्मेदारियाँ हैं।लोकतंत्र और उत्तरदायित्व के संबंध में नागरिक समाज की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। गैर-सरकारी संगठन, मीडिया, सामाजिक आंदोलन और जन-अभियान शासन को अधिक उत्तरदायी बनाने में योगदान देते हैं। सूचना का अधिकार आंदोलन, भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन और सामाजिक अंकेक्षण इसी प्रक्रिया के प्रमुख उदाहरण हैं।

सामाजिक अंकेक्षण विशेष रूप से लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। मनरेगा जैसी योजनाओं में सामाजिक अंकेक्षण ने नागरिकों को सरकारी व्यय और नीति-क्रियान्वयन की प्रत्यक्ष निगरानी का अवसर प्रदान किया। इससे शासन में पारदर्शिता और जनविश्वास को बढ़ाने का प्रयास किया गया।

उत्तरदायी शासन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण आयाम संवैधानिक संस्थाओं की स्वतंत्रता है। चुनाव आयोग, नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (CAG), केंद्रीय सूचना आयोग और न्यायपालिका जैसी संस्थाएँ शासन को नियंत्रित और संतुलित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। समकालीन समय में डिजिटल तकनीक ने लोकतंत्र और उत्तरदायी शासन के संबंध को नए रूप में प्रभावित किया है। ई-गवर्नेंस, ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणाली और डिजिटल जनभागीदारी मंचों ने नागरिकों को शासन से सीधे संवाद करने के नए अवसर प्रदान किए हैं।

हालाँकि डिजिटल लोकतंत्र की अपनी सीमाएँ भी हैं। डिजिटल विभाजन, गलत सूचना (Misinformation), ऑनलाइन घृणा और डेटा-सुरक्षा जैसी समस्याएँ लोकतांत्रिक विमर्श को प्रभावित कर सकती हैं। इसलिए तकनीकी विकास और लोकतांत्रिक अधिकारों के बीच संतुलन बनाए रखना आवश्यक है।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से उत्तरदायी शासन का अंतिम उद्देश्य केवल प्रशासनिक सुधार नहीं, बल्कि नागरिकों में विश्वास, सहभागिता और लोकतांत्रिक संस्कृति का विकास करना है। लोकतंत्र तभी सफल माना जा सकता है जब नागरिक स्वयं को शासन-प्रक्रिया का सक्रिय भाग समझें और शासन नागरिकों के प्रति संवेदनशील तथा जवाबदेह बना रहे। इस प्रकार लोकतंत्र, नागरिकता और उत्तरदायी शासन परस्पर पूरक अवधारणाएँ हैं। लोकतंत्र नागरिकों को अधिकार और सहभागिता प्रदान करता है, नागरिकता उन्हें राजनीतिक समुदाय का सक्रिय सदस्य बनाती है, और उत्तरदायी शासन इन अधिकारों और सहभागिता को वास्तविक रूप प्रदान करता है। लोकतांत्रिक राज्य की सफलता इसी संतुलन पर निर्भर करती है।

3.5 नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter): अवधारणा एवं विकास

आधुनिक प्रशासनिक व्यवस्था में नागरिकों को केवल शासन के अधीन रहने वाले व्यक्तियों के रूप में नहीं, बल्कि अधिकार-संपन्न भागीदारों के रूप में देखा जाने लगा है। इसी परिवर्तनशील दृष्टिकोण ने नागरिक-केंद्रित प्रशासन (Citizen-Centric Administration) की अवधारणा को जन्म दिया। नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter) इसी प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण है, जिसका उद्देश्य प्रशासन को अधिक उत्तरदायी, पारदर्शी और सेवा-उन्मुख बनाना है।

नागरिक अधिकार पत्र मूलतः एक सार्वजनिक दस्तावेज़ होता है जिसमें किसी सरकारी विभाग अथवा सार्वजनिक संस्था द्वारा नागरिकों को प्रदान की जाने वाली सेवाओं, उनके मानकों, समय-सीमा तथा शिकायत-निवारण की प्रक्रियाओं का स्पष्ट उल्लेख किया जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक कार्यप्रणाली को नागरिकों के प्रति अधिक उत्तरदायी बनाना है।नागरिक अधिकार पत्र की अवधारणा का विकास ब्रिटेन में हुआ। 1991 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री जॉन मेजर ने "सिटिज़न्स चार्टर मूवमेंट" (Citizen's Charter Movement) की शुरुआत की। इस पहल का उद्देश्य सार्वजनिक सेवाओं की गुणवत्ता में सुधार करना तथा प्रशासनिक संस्थाओं को नागरिकों के प्रति अधिक जवाबदेह बनाना था। इस आंदोलन की पृष्ठभूमि में यह अनुभव कार्य कर रहा था कि पारंपरिक नौकरशाही व्यवस्था अत्यधिक केंद्रीकृत, जटिल और नागरिकों के प्रति असंवेदनशील होती जा रही है। सार्वजनिक सेवाओं में विलंब, भ्रष्टाचार और प्रशासनिक उदासीनता के कारण नागरिकों में असंतोष बढ़ रहा था।

इसीलिए नागरिक अधिकार पत्र के माध्यम से प्रशासनिक संस्थाओं को यह स्पष्ट करने के लिए बाध्य किया गया कि वे नागरिकों को कौन-कौन सी सेवाएँ प्रदान करेंगी, कितने समय में करेंगी और यदि सेवा-प्रदान में त्रुटि हो तो नागरिकों के पास शिकायत दर्ज कराने के क्या साधन उपलब्ध होंगे।

सैमुअल पॉल ने **'इंडिया'ज़ सिटिज़न्स चार्टर्स : इन सर्च ऑफ ए चैंपियन'** (India's Citizen's Charters: In Search of a Champion) में यह स्पष्ट किया कि नागरिक अधिकार पत्र प्रशासनिक सुधार का केवल औपचारिक दस्तावेज़ नहीं है, बल्कि यह शासन की मानसिकता में परिवर्तन का प्रयास है। इसका उद्देश्य प्रशासन को "शासनकर्ता" से "सेवा-प्रदाता" में रूपांतरित करना है।

नागरिक अधिकार पत्र की अवधारणा सुशासन (Good Governance) के सिद्धांतों से गहराई से जुड़ी हुई है। पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, दक्षता और नागरिक सहभागिता इसके प्रमुख आधार माने जाते हैं।

नागरिक अधिकार पत्र की कुछ प्रमुख विशेषताएँ सामान्यतः निम्नलिखित मानी जाती हैं–

- सेवाओं का स्पष्ट विवरण
- सेवा-प्रदान की समय-सीमा
- उत्तरदायी अधिकारियों का उल्लेख
- शिकायत-निवारण तंत्र
- नागरिकों के अधिकार और दायित्व
- प्रशासनिक पारदर्शिता

यह व्यवस्था नागरिकों को प्रशासनिक प्रक्रियाओं के प्रति जागरूक बनाती है तथा सार्वजनिक सेवाओं के संबंध में अपेक्षाओं को स्पष्ट करती है।

भारत में नागरिक अधिकार पत्र की अवधारणा 1990 के दशक में प्रशासनिक सुधारों और सुशासन संबंधी विमर्श के साथ प्रमुखता से सामने आई। आर्थिक उदारीकरण और प्रशासनिक सुधारों की प्रक्रिया के दौरान यह अनुभव किया गया कि भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था को अधिक पारदर्शी और नागरिक-केंद्रित बनाने की आवश्यकता है।

भारत सरकार के प्रशासनिक सुधार एवं लोक शिकायत विभाग (Department of Administrative Reforms and Public Grievances–DARPG) ने 1997 में नागरिक अधिकार पत्र संबंधी पहल को औपचारिक रूप से प्रारंभ किया। विभिन्न मंत्रालयों और विभागों को अपने-अपने नागरिक अधिकार पत्र तैयार करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। भारतीय नागरिक अधिकार पत्रों का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि नागरिकों को सार्वजनिक सेवाओं के संबंध में स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो तथा प्रशासनिक प्रक्रियाओं में पारदर्शिता बढ़े। उदाहरण के लिए रेलवे, डाक विभाग, बैंकिंग संस्थाएँ, नगरपालिकाएँ और सार्वजनिक वितरण प्रणाली से संबंधित विभागों ने नागरिक अधिकार पत्र जारी किए जिनमें सेवा-प्रदान की समय-सीमा और शिकायत-निवारण प्रक्रियाओं का उल्लेख किया गया। नागरिक अधिकार पत्र का एक महत्त्वपूर्ण पहलू प्रशासनिक संस्कृति में परिवर्तन लाना है। पारंपरिक औपनिवेशिक प्रशासनिक व्यवस्था में नागरिकों को प्रायः शासन के अधीन "प्रजा" के रूप में देखा जाता था। लोकतांत्रिक शासन में नागरिक अधिकार पत्र इस धारणा को चुनौती देता है और नागरिकों को अधिकार-संपन्न सहभागी के रूप में स्थापित करता है।

भारत में नागरिक अधिकार पत्र की सबसे बड़ी समस्या यह रही कि कई विभागों ने इसे केवल प्रतीकात्मक दस्तावेज़ के रूप में तैयार किया। अनेक स्थानों पर नागरिकों को इन चार्टरों की जानकारी ही नहीं होती। इसके अतिरिक्त शिकायत-निवारण की व्यवस्था कई बार प्रभावी नहीं होती, जिसके कारण नागरिक अधिकार पत्र व्यावहारिक स्तर पर अपेक्षित परिणाम नहीं दे पाता। फिर भी नागरिक अधिकार पत्र का महत्त्व कम नहीं होता। इसने भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था में नागरिक-केंद्रित शासन की अवधारणा को मजबूत किया। यह स्पष्ट किया गया कि सार्वजनिक संस्थाएँ नागरिकों की सेवा के लिए हैं और उन्हें अपने कार्यों के लिए जनता के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए।

समकालीन समय में ई-गवर्नेंस और डिजिटल प्रशासन ने नागरिक अधिकार पत्र की अवधारणा को नई दिशा प्रदान की है। अनेक सरकारी पोर्टलों पर अब सेवा-मानकों, शिकायत-निवारण तंत्र और ऑनलाइन निगरानी प्रणालियों को डिजिटल रूप में उपलब्ध कराया जा रहा है। डिजिटल शिकायत प्रणाली, सेवा ट्रैकिंग और ऑनलाइन पारदर्शिता ने नागरिक अधिकार पत्र को अधिक प्रभावी बनाने की संभावनाएँ उत्पन्न की हैं। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से नागरिक अधिकार पत्र केवल प्रशासनिक सुधार का साधन नहीं है। यह लोकतांत्रिक शासन की उस व्यापक धारणा का हिस्सा है जिसमें राज्य को नागरिकों के प्रति उत्तरदायी और संवेदनशील संस्था के रूप में पुनर्परिभाषित किया जाता है। इस प्रकार नागरिक अधिकार पत्र आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में नागरिक सशक्तिकरण, प्रशासनिक पारदर्शिता और उत्तरदायी शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम माना जाता है।

3.6 भारत में नागरिक अधिकार पत्र : विशेषताएँ, उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ

भारत में नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter) की अवधारणा प्रशासनिक सुधारों और सुशासन की व्यापक प्रक्रिया का हिस्सा रही है। स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था ने कल्याणकारी राज्य की दिशा में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए, किन्तु समय के साथ प्रशासनिक भ्रष्टाचार, लालफीताशाही, सेवा-प्रदायन में विलंब तथा नागरिकों के प्रति असंवेदनशीलता जैसी समस्याएँ गंभीर होती गईं। इसी कारण 1990 के दशक में प्रशासनिक उत्तरदायित्व और नागरिक-केंद्रित शासन पर विशेष बल दिया जाने लगा।

आर्थिक उदारीकरण और वैश्वीकरण के बाद शासन की प्रकृति में भी परिवर्तन आया। प्रशासन से अपेक्षा की जाने लगी कि वह केवल नियंत्रणकारी संस्था न रहकर सेवा-उन्मुख (Service-Oriented) व्यवस्था के रूप में कार्य करे। नागरिक अधिकार पत्र इसी परिवर्तनशील प्रशासनिक दृष्टिकोण का परिणाम था। भारत सरकार के प्रशासनिक सुधार एवं लोक शिकायत विभाग (DARPG) ने 1997 में नागरिक अधिकार पत्र संबंधी दिशा-निर्देश जारी किए। विभिन्न मंत्रालयों, विभागों और सार्वजनिक संस्थाओं को अपने-अपने क्षेत्र में नागरिक अधिकार पत्र तैयार करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। भारतीय नागरिक अधिकार पत्रों का मुख्य उद्देश्य यह सुनिश्चित करना था कि नागरिकों को सार्वजनिक सेवाओं के संबंध में स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो। इसमें यह बताया जाता था कि कौन-सी सेवाएँ उपलब्ध हैं, उन्हें प्राप्त करने में कितना समय लगेगा, संबंधित अधिकारी कौन होगा तथा शिकायत की स्थिति में नागरिक कहाँ संपर्क कर सकते हैं।

भारतीय संदर्भ में नागरिक अधिकार पत्र की कुछ प्रमुख विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले, यह प्रशासनिक पारदर्शिता को बढ़ाने का प्रयास करता है। जब सेवाओं और प्रक्रियाओं की जानकारी सार्वजनिक रूप से उपलब्ध होती है, तब प्रशासनिक मनमानी की संभावना कम होती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता उत्तरदायित्व की स्थापना है। नागरिक अधिकार पत्र यह स्पष्ट करता है कि किसी विशेष सेवा के लिए कौन-सा विभाग अथवा अधिकारी जिम्मेदार है। इससे प्रशासनिक जवाबदेही की प्रक्रिया अधिक स्पष्ट होती है।

तीसरी विशेषता नागरिक-केंद्रित दृष्टिकोण है। पारंपरिक प्रशासनिक व्यवस्था में नागरिकों को प्रायः निष्क्रिय प्राप्तकर्ता माना जाता था, जबकि नागरिक अधिकार पत्र उन्हें अधिकार-संपन्न उपभोक्ता और सहभागी के रूप में प्रस्तुत करता है। भारत में अनेक विभागों और संस्थाओं ने नागरिक अधिकार पत्र लागू किए। रेलवे, डाक विभाग, नगरपालिकाएँ, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, बैंकिंग सेवाएँ और परिवहन विभाग इसके प्रमुख उदाहरण हैं। रेलवे सेवाओं में टिकट आरक्षण, शिकायत निवारण और यात्री सुविधाओं से संबंधित मानकों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया। इसी प्रकार नगरपालिकाओं में जन्म-मृत्यु प्रमाण-पत्र, जलापूर्ति और सफाई सेवाओं के लिए समय-सीमा निर्धारित की गई। कुछ राज्यों ने भी नागरिक अधिकार पत्र को अधिक प्रभावी बनाने के लिए विशेष पहलें कीं। मध्य प्रदेश, कर्नाटक और बिहार जैसे राज्यों में "लोक सेवा गारंटी अधिनियम" (Public Service Guarantee Acts) लागू किए गए जिनके माध्यम से समयबद्ध सेवा-प्रदायन को कानूनी आधार प्रदान किया गया। इन अधिनियमों के अंतर्गत यदि निर्धारित समय-सीमा में सेवा प्रदान न की जाए, तो संबंधित अधिकारी पर दंडात्मक कार्रवाई की जा सकती है। यह नागरिक अधिकार पत्र की अवधारणा को अधिक व्यावहारिक और बाध्यकारी बनाने का प्रयास था। भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोगों ने भी नागरिक अधिकार पत्र को उत्तरदायी शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण साधन माना। द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग ने सुझाव दिया कि नागरिक अधिकार पत्रों को केवल औपचारिक दस्तावेज़ न रहने देकर उन्हें सेवा-प्रदायन और प्रशासनिक मूल्यांकन की वास्तविक प्रक्रिया से जोड़ा जाना चाहिए।

नागरिक अधिकार पत्र की उपलब्धियों का मूल्यांकन करते समय यह स्पष्ट दिखाई देता है कि इसने प्रशासनिक संस्कृति में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन अवश्य उत्पन्न किए। सबसे पहले, इसने प्रशासनिक प्रक्रियाओं में पारदर्शिता और सेवा-मानकों के प्रश्न को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाया। दूसरे, इसने नागरिकों में यह जागरूकता विकसित की कि सार्वजनिक सेवाएँ "अनुग्रह" (Privilege) नहीं, बल्कि अधिकार (Right) हैं। लोकतांत्रिक शासन में नागरिकों को सम्मानजनक, समयबद्ध और गुणवत्तापूर्ण सेवाएँ प्राप्त करने का अधिकार है। तीसरे, नागरिक अधिकार पत्र ने ई-गवर्नेंस और डिजिटल प्रशासन के विकास को भी प्रेरित किया। ऑनलाइन सेवा

पोर्टल, शिकायत-निवारण प्रणाली और सेवा ट्रैकिंग तंत्र ने प्रशासनिक उत्तरदायित्व को अधिक प्रभावी बनाने का प्रयास किया।

किन्तु भारतीय संदर्भ में नागरिक अधिकार पत्र की अनेक सीमाएँ भी सामने आईं। सबसे बड़ी समस्या यह रही कि कई विभागों ने इसे केवल औपचारिक दस्तावेज़ के रूप में तैयार किया। नागरिक अधिकार पत्र अक्सर कार्यालयों की दीवारों पर प्रदर्शित तो किए गए, किन्तु वास्तविक प्रशासनिक व्यवहार में अपेक्षित परिवर्तन नहीं हो पाया।

एक अन्य समस्या नागरिक जागरूकता की कमी रही। ग्रामीण क्षेत्रों और वंचित समुदायों के अनेक नागरिकों को यह जानकारी ही नहीं होती कि नागरिक अधिकार पत्र क्या है और वे उससे किस प्रकार लाभ प्राप्त कर सकते हैं।प्रशासनिक इच्छाशक्ति का अभाव भी एक गंभीर चुनौती रही। यदि प्रशासनिक अधिकारी स्वयं उत्तरदायित्व और पारदर्शिता के प्रति प्रतिबद्ध न हों, तो नागरिक अधिकार पत्र केवल प्रतीकात्मक दस्तावेज़ बनकर रह जाता है। इसके अतिरिक्त कई विभागों में शिकायत-निवारण की व्यवस्था प्रभावी नहीं पाई गई। नागरिक शिकायत तो दर्ज कर सकते हैं, किन्तु समाधान की प्रक्रिया धीमी और जटिल बनी रहती है। समकालीन समय में डिजिटल प्रशासन ने नागरिक अधिकार पत्र की संभावनाओं को बढ़ाया है। ऑनलाइन ट्रैकिंग, सेवा-गारंटी पोर्टल और डिजिटल शिकायत निवारण प्रणाली ने प्रशासनिक पारदर्शिता को अपेक्षाकृत अधिक मजबूत किया है।

फिर भी यह स्पष्ट है कि नागरिक अधिकार पत्र की वास्तविक सफलता केवल दस्तावेज़ तैयार करने से संभव नहीं है। इसके लिए प्रशासनिक सुधार, नागरिक जागरूकता, प्रभावी शिकायत-निवारण और संस्थागत उत्तरदायित्व आवश्यक हैं। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से नागरिक अधिकार पत्र लोकतांत्रिक शासन की उस व्यापक प्रक्रिया का हिस्सा है जिसमें राज्य और नागरिकों के संबंधों को अधिक समान, पारदर्शी और उत्तरदायी बनाने का प्रयास किया जाता है। यह नागरिकों को केवल शासित समुदाय के रूप में नहीं, बल्कि अधिकार-संपन्न लोकतांत्रिक सहभागी के रूप में स्थापित करता है।

3.7 सूचना का अधिकार (Right to Information–RTI): अर्थ एवं विकास

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में सूचना तक पहुँच को नागरिक स्वतंत्रता और उत्तरदायी शासन का अत्यंत महत्त्वपूर्ण आधार माना जाता है। यदि नागरिकों को यह जानकारी ही न हो कि सरकार किस प्रकार निर्णय ले रही है, सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग कैसे हो रहा है अथवा प्रशासनिक प्रक्रियाएँ किस प्रकार संचालित हो रही हैं, तो लोकतांत्रिक नियंत्रण और उत्तरदायित्व की व्यवस्था प्रभावी नहीं रह सकती। इसी कारण "सूचना का अधिकार" (Right to Information–RTI) को आधुनिक लोकतंत्रों में पारदर्शिता और नागरिक सशक्तिकरण का महत्त्वपूर्ण उपकरण माना जाता है।

सूचना का अधिकार मूलतः नागरिकों के उस अधिकार को व्यक्त करता है जिसके माध्यम से वे सार्वजनिक संस्थाओं से सूचना प्राप्त कर सकते हैं। यह अधिकार शासन की गोपनीयता को सीमित करता है तथा प्रशासनिक कार्यप्रणाली को सार्वजनिक निगरानी के अधीन लाता है।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से सूचना का अधिकार लोकतंत्र और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से गहराई से जुड़ा हुआ है। यदि नागरिकों को शासन संबंधी जानकारी उपलब्ध न हो, तो वे न तो सरकार की आलोचना कर सकते हैं और न ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया में सार्थक भागीदारी कर सकते हैं। पीटर बिरकिंशॉ ने 'फ्रीडम ऑफ इन्फॉर्मेशन एंड ओपेननेस : फंडामेंटल ह्यूमन राइट्स?' (Freedom of Information and Openness: Fundamental Human Rights?) में यह तर्क दिया कि सूचना तक पहुँच केवल प्रशासनिक सुविधा नहीं, बल्कि आधुनिक लोकतंत्र में एक मौलिक मानवीय अधिकार के रूप में विकसित हो चुकी है।

सूचना का अधिकार शासन में "गोपनीयता की संस्कृति" (Culture of Secrecy) को चुनौती देता है। औपनिवेशिक प्रशासनिक संरचनाओं में शासन मुख्यतः नियंत्रण और गोपनीयता पर आधारित होता था। नागरिकों को प्रशासनिक सूचनाओं तक सीमित पहुँच प्राप्त होती थी। भारत में भी औपनिवेशिक शासन के दौरान "ऑफिशियल सीक्रेट्स एक्ट, 1923" (Official Secrets Act, 1923) के माध्यम से प्रशासनिक गोपनीयता को संस्थागत रूप प्रदान किया गया। स्वतंत्रता के बाद लोकतांत्रिक शासन की स्थापना हुई, किन्तु प्रशासनिक संस्कृति में गोपनीयता की प्रवृत्ति लंबे समय तक बनी रही।

समय के साथ यह अनुभव किया गया कि भ्रष्टाचार, संसाधनों की अनियमितता और प्रशासनिक अपारदर्शिता को समाप्त करने के लिए नागरिकों को सूचना तक अधिकारपूर्ण पहुँच प्रदान करना आवश्यक है। भारत में सूचना के अधिकार आंदोलन का विकास मुख्यतः जन-आंदोलनों और नागरिक समाज की सक्रियता के माध्यम से हुआ। राजस्थान में मजदूर किसान शक्ति संगठन (MKSS) द्वारा प्रारंभ किया गया आंदोलन इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अरुणा रॉय, निखिल डे और अन्य सामाजिक कार्यकर्ताओं ने ग्रामीण मजदूरों और नागरिकों के साथ मिलकर यह प्रश्न उठाया कि यदि सरकारी योजनाओं में जनता का धन खर्च हो रहा है, तो नागरिकों को यह जानने का अधिकार होना चाहिए कि धन कहाँ और कैसे उपयोग किया जा रहा है।

जन-सुनवाई (Public Hearing) और सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रियाओं के माध्यम से गाँवों में सरकारी अभिलेखों को सार्वजनिक रूप से पढ़ा जाने लगा। इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक योजनाओं में भ्रष्टाचार, फर्जी भुगतान और प्रशासनिक अनियमितताएँ मौजूद थीं। इसी आंदोलन ने सूचना को नागरिक अधिकार के रूप में स्थापित करने की दिशा में राष्ट्रीय स्तर पर व्यापक दबाव उत्पन्न किया। 1990 के दशक में अनेक राज्यों ने सूचना संबंधी कानून बनाए। तमिलनाडु, गोवा, राजस्थान और दिल्ली जैसे राज्यों ने प्रारंभिक स्तर पर सूचना उपलब्ध कराने की व्यवस्थाएँ विकसित कीं।

अंततः 2005 में भारतीय संसद ने सूचना का अधिकार अधिनियम (Right to Information Act, 2005) पारित किया। यह अधिनियम भारतीय लोकतंत्र में प्रशासनिक पारदर्शिता की दिशा में ऐतिहासिक कदम माना जाता है। सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 का मूल उद्देश्य शासन को अधिक पारदर्शी, उत्तरदायी और नागरिक-केंद्रित बनाना था। इस कानून ने प्रत्येक नागरिक को सार्वजनिक प्राधिकरणों से सूचना प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया।

आर. जैन ने 'गुड गवर्नेंस एंड राइट टू इन्फॉर्मेशन : ए पर्सपेक्टिव' (Good Governance and Right to Information: A Perspective) में यह स्पष्ट किया कि सूचना का अधिकार सुशासन की प्रक्रिया को सुदृढ़ करता है क्योंकि यह प्रशासनिक निर्णयों को सार्वजनिक समीक्षा के अधीन लाता है। सूचना का अधिकार केवल दस्तावेज़ प्राप्त करने की व्यवस्था नहीं है। यह लोकतांत्रिक शक्ति-संतुलन की प्रक्रिया का हिस्सा है। जब नागरिकों को शासन-संबंधी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, तब वे प्रशासन की समीक्षा, आलोचना और निगरानी कर सकते हैं। सूचना का अधिकार भ्रष्टाचार-नियंत्रण के संदर्भ में भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। अनेक मामलों में RTI के माध्यम से सार्वजनिक योजनाओं में अनियमितताओं, वित्तीय भ्रष्टाचार और प्रशासनिक दुरुपयोग का खुलासा हुआ। उदाहरण के लिए राशन वितरण, मनरेगा, पेंशन योजनाओं और नगरपालिका सेवाओं से संबंधित अनेक मामलों में नागरिकों ने RTI के माध्यम से प्रशासनिक सूचनाएँ प्राप्त कर भ्रष्टाचार को उजागर किया। सूचना का अधिकार लोकतांत्रिक नागरिकता को भी सशक्त बनाता है। यह नागरिकों को शासन के प्रति सक्रिय और जागरूक बनाता है। लोकतंत्र केवल मतदान तक सीमित नहीं रह जाता, बल्कि नागरिक निरंतर शासन-प्रक्रिया की निगरानी और मूल्यांकन में भाग लेते हैं।

समकालीन समय में डिजिटल तकनीक ने सूचना के अधिकार की प्रक्रिया को और अधिक व्यापक बनाया है। अनेक सरकारी विभाग अब ऑनलाइन सूचना पोर्टल, डिजिटल रिकॉर्ड और वेबसाइटों के माध्यम से सूचनाएँ सार्वजनिक रूप से उपलब्ध कराते हैं। इसके अतिरिक्त RTI कार्यकर्ताओं की सुरक्षा भी गंभीर चिंता का विषय रही है। अनेक मामलों में भ्रष्टाचार उजागर करने वाले कार्यकर्ताओं को धमकियों और हिंसा का सामना करना पड़ा। सूचना के अधिकार और गोपनीयता के बीच संतुलन का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है। राज्य की कुछ सूचनाएँ राष्ट्रीय सुरक्षा, कूटनीति और संवेदनशील प्रशासनिक प्रक्रियाओं से संबंधित हो सकती हैं। इसलिए सूचना का अधिकार पूर्णतः निरपेक्ष नहीं माना जाता। फिर भी यह स्पष्ट है कि सूचना का अधिकार भारतीय लोकतंत्र में पारदर्शिता और उत्तरदायित्व की संस्कृति को मजबूत करने वाला ऐतिहासिक कदम रहा है। इसने नागरिकों को शासन के प्रति अधिक जागरूक और सशक्त बनाया तथा प्रशासनिक गोपनीयता की परंपरा को चुनौती दी।

इस प्रकार सूचना का अधिकार आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की उस व्यापक प्रक्रिया का हिस्सा है जिसमें नागरिकों को शासन की जानकारी तक पहुँच प्रदान कर उन्हें लोकतांत्रिक शक्ति-संरचना का सक्रिय सहभागी बनाया जाता है।

3.8 सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 : प्रमुख प्रावधान

सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 भारतीय लोकतंत्र में पारदर्शिता और उत्तरदायी शासन की दिशा में एक ऐतिहासिक विधिक व्यवस्था मानी जाती है। यह अधिनियम 15 जून 2005 को पारित हुआ तथा 12 अक्टूबर 2005 से पूर्ण रूप से लागू किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य प्रशासनिक गोपनीयता को सीमित करना तथा नागरिकों को सार्वजनिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली के संबंध में सूचना प्राप्त करने का अधिकार प्रदान करना था। इस अधिनियम का मूल आधार यह विचार है कि लोकतंत्र में सरकार जनता के प्रति उत्तरदायी होती है, इसलिए शासन-संबंधी सूचनाएँ नागरिकों से छिपाई नहीं जा सकतीं, जब तक कि वे राष्ट्रीय सुरक्षा अथवा संवेदनशील सार्वजनिक हित से संबंधित न हों। सूचना का अधिकार अधिनियम "सूचना" (Information) की व्यापक परिभाषा प्रदान करता है। इसके अंतर्गत दस्तावेज़, अभिलेख, ज्ञापन, ई-मेल, परामर्श, आदेश, रिपोर्ट, अनुबंध, डेटा तथा इलेक्ट्रॉनिक रूप में उपलब्ध सामग्री सम्मिलित की गई है। इसका अर्थ यह है कि नागरिक केवल लिखित दस्तावेज़ ही नहीं, बल्कि प्रशासनिक प्रक्रियाओं से संबंधित विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

अधिनियम के अनुसार प्रत्येक "लोक प्राधिकरण" (Public Authority) इस कानून के अंतर्गत आता है। लोक प्राधिकरण से अभिप्राय उन संस्थाओं से है जो–

- संविधान द्वारा स्थापित हों,
- संसद अथवा राज्य विधानमंडल द्वारा निर्मित हों,
- सरकारी अधिसूचना द्वारा गठित हों,
- अथवा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सरकारी वित्तीय सहायता प्राप्त करती हों।

इस प्रकार मंत्रालय, विभाग, सार्वजनिक उपक्रम, स्थानीय निकाय, विश्वविद्यालय तथा अनेक सरकारी सहायता प्राप्त संस्थाएँ RTI के अंतर्गत आती हैं।

अधिनियम का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रावधान "लोक सूचना अधिकारी" (Public Information Officer – PIO) की नियुक्ति है। प्रत्येक सार्वजनिक संस्था में सूचना प्रदान करने के लिए एक अधिकारी नियुक्त किया जाता है। नागरिक RTI आवेदन इसी अधिकारी को प्रस्तुत करते हैं। यदि आवेदन गलत विभाग में चला जाए, तो

संबंधित अधिकारी का दायित्व है कि वह आवेदन को उचित विभाग में स्थानांतरित करे। यह प्रावधान नागरिकों को प्रशासनिक जटिलताओं से बचाने के उद्देश्य से जोड़ा गया। सूचना प्राप्त करने की समय-सीमा भी अधिनियम की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। सामान्यतः लोक सूचना अधिकारी को 30 दिनों के भीतर सूचना उपलब्ध करानी होती है। यदि मामला जीवन और स्वतंत्रता (Life and Liberty) से संबंधित हो, तो 48 घंटे के भीतर सूचना प्रदान करना आवश्यक है।

यह समयबद्ध व्यवस्था प्रशासनिक उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करने का प्रयास करती है। यदि अधिकारी निर्धारित समय में सूचना उपलब्ध नहीं कराता, तो इसे सूचना देने से इंकार माना जा सकता है। अधिनियम में "अपील" (Appeal) की व्यवस्था भी की गई है। यदि आवेदक को सूचना न मिले अथवा वह उपलब्ध कराई गई सूचना से संतुष्ट न हो, तो वह प्रथम अपीलीय अधिकारी के समक्ष अपील कर सकता है। इसके पश्चात भी यदि समाधान न हो, तो केंद्रीय सूचना आयोग (Central Information Commission – CIC) अथवा राज्य सूचना आयोग (State Information Commission – SIC) के समक्ष द्वितीय अपील की जा सकती है। केंद्रीय सूचना आयोग और राज्य सूचना आयोग अधिनियम की प्रभावशीलता सुनिश्चित करने वाली महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। इनका कार्य शिकायतों और अपीलों की सुनवाई करना तथा यह सुनिश्चित करना है कि सार्वजनिक संस्थाएँ सूचना उपलब्ध कराने के अपने दायित्व का पालन करें। अधिनियम का एक अत्यंत प्रभावशाली पक्ष दंडात्मक प्रावधान (Penalty Provision) है। यदि लोक सूचना अधिकारी बिना उचित कारण सूचना देने से इंकार करे, गलत सूचना दे अथवा अनावश्यक विलंब करे, तो सूचना आयोग उस पर आर्थिक दंड लगा सकता है।

यह प्रावधान प्रशासनिक उत्तरदायित्व को अधिक प्रभावी बनाने के उद्देश्य से जोड़ा गया था, क्योंकि केवल नैतिक अपील से प्रशासनिक पारदर्शिता सुनिश्चित करना संभव नहीं था। हालाँकि सूचना का अधिकार पूर्णतः निरपेक्ष नहीं है। अधिनियम की धारा 8 में कुछ सूचनाओं को अपवाद (Exemptions) के रूप में रखा गया है। इनमें राष्ट्रीय सुरक्षा, कूटनीतिक संबंध, न्यायिक प्रक्रिया, व्यापारिक गोपनीयता तथा व्यक्तिगत निजता से संबंधित सूचनाएँ शामिल हैं। इन अपवादों का उद्देश्य राज्य की संवेदनशील सूचनाओं और व्यक्तिगत अधिकारों की रक्षा करना है। किन्तु आलोचकों का मत है कि कई बार प्रशासन इन प्रावधानों का अत्यधिक उपयोग कर सूचना रोकने का प्रयास करता है। अधिनियम का एक महत्त्वपूर्ण प्रावधान "स्वप्रेरित प्रकटीकरण" (Suo Motu Disclosure) से संबंधित है। धारा 4 के अंतर्गत सार्वजनिक संस्थाओं को यह निर्देश दिया गया कि वे अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ स्वयं ही सार्वजनिक करें ताकि नागरिकों को हर छोटी जानकारी के लिए अलग आवेदन न देना पड़े।

इसमें संस्थागत संरचना, कार्य, बजट, निर्णय-प्रक्रिया और अधिकारियों के अधिकारों से संबंधित सूचनाएँ शामिल हैं। यह प्रावधान पारदर्शिता को सक्रिय रूप से बढ़ाने का प्रयास करता है। सूचना का अधिकार अधिनियम का लोकतांत्रिक महत्त्व अत्यंत व्यापक है। इसने शासन को "जानकारी-आधारित लोकतंत्र" (Information-Based Democracy) की दिशा में आगे बढ़ाया। नागरिक अब केवल मतदाता नहीं रहे, बल्कि वे शासन-संबंधी निर्णयों की समीक्षा करने वाले सक्रिय सहभागी बन गए।

अनेक मामलों में RTI के माध्यम से सार्वजनिक योजनाओं में भ्रष्टाचार, फर्जी नियुक्तियाँ, संसाधनों के दुरुपयोग और प्रशासनिक अनियमितताओं का खुलासा हुआ। मनरेगा, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, नगरपालिका प्रशासन, शिक्षा संस्थाओं और पुलिस प्रशासन से संबंधित अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ RTI के माध्यम से सामने आईं।

फिर भी अधिनियम के क्रियान्वयन में अनेक समस्याएँ बनी हुई हैं। कई विभागों में रिकॉर्ड-प्रबंधन की स्थिति कमजोर है। सूचना आयोगों में लंबित मामलों की संख्या भी लगातार बढ़ती रही है। इसके अतिरिक्त अनेक RTI कार्यकर्ताओं को धमकियों और हिंसा का सामना करना पड़ा, जिससे यह प्रश्न उठा कि पारदर्शिता की माँग करने

वाले नागरिकों की सुरक्षा कैसे सुनिश्चित की जाए। 2019 के सूचना का अधिकार संशोधन अधिनियम को लेकर भी बहस हुई। आलोचकों का मत था कि इससे सूचना आयोगों की स्वतंत्रता प्रभावित हो सकती है क्योंकि आयोगों की सेवा-शर्तों और कार्यकाल से संबंधित अधिकार केंद्र सरकार को अधिक प्राप्त हो गए।

इसके बावजूद सूचना का अधिकार अधिनियम भारतीय लोकतंत्र में नागरिक सशक्तिकरण का अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन बना हुआ है। इसने शासन की पारंपरिक गोपनीयता को चुनौती दी तथा प्रशासनिक उत्तरदायित्व को लोकतांत्रिक विमर्श का केंद्रीय विषय बनाया। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से RTI केवल सूचना प्राप्त करने की विधिक व्यवस्था नहीं है। यह लोकतांत्रिक शक्ति-संबंधों के पुनर्संतुलन की प्रक्रिया है जिसमें नागरिकों को शासन की जानकारी तक पहुँच प्रदान कर उन्हें अधिक सक्षम और सक्रिय लोकतांत्रिक भागीदार बनाया जाता है।

3.9 सुशासन और पारदर्शिता में RTI की भूमिका

सूचना का अधिकार (RTI) आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और नागरिक सशक्तिकरण का अत्यंत प्रभावशाली उपकरण माना जाता है। भारतीय लोकतंत्र में RTI ने केवल प्रशासनिक सूचना उपलब्ध कराने की व्यवस्था ही विकसित नहीं की, बल्कि शासन और नागरिकों के संबंधों की प्रकृति को भी गहराई से प्रभावित किया। सुशासन (Good Governance) की अवधारणा पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, नागरिक सहभागिता, विधि के शासन और प्रशासनिक दक्षता जैसे सिद्धांतों पर आधारित है। यदि नागरिकों को शासन संबंधी सूचनाएँ उपलब्ध न हों, तो ये सिद्धांत व्यावहारिक रूप से प्रभावी नहीं हो सकते। इसी कारण सूचना का अधिकार सुशासन की आधारभूत शर्तों में से एक माना जाता है।

आर. जैन ने 'गुड गवर्नेंस एंड राइट टू इन्फॉर्मेशन : ए पर्सपेक्टिव' (Good Governance and Right to Information: A Perspective) में यह तर्क दिया कि RTI शासन को "closed administration" अर्थात बंद प्रशासनिक व्यवस्था से "open governance" अर्थात खुली शासन-व्यवस्था की दिशा में ले जाता है।

पारंपरिक प्रशासनिक संरचना में सूचनाएँ मुख्यतः सरकारी नियंत्रण के अधीन रहती थीं। नागरिकों को यह जानकारी नहीं होती थी कि निर्णय किस प्रकार लिए जा रहे हैं, योजनाओं में धन कैसे खर्च हो रहा है अथवा प्रशासनिक प्रक्रियाओं में कौन-सी अनियमितताएँ मौजूद हैं। RTI ने इस गोपनीयता को चुनौती दी।

RTI की सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रशासनिक पारदर्शिता को बढ़ाने में रही है। जब सार्वजनिक संस्थाओं को यह ज्ञात होता है कि नागरिक किसी भी समय जानकारी माँग सकते हैं, तब प्रशासनिक प्रक्रियाएँ अपेक्षाकृत अधिक सावधानी और उत्तरदायित्व के साथ संचालित होती हैं। इस प्रकार RTI केवल सूचना उपलब्ध कराने की व्यवस्था नहीं, बल्कि प्रशासनिक व्यवहार को प्रभावित करने वाला संरचनात्मक उपकरण भी है।

भ्रष्टाचार-नियंत्रण के संदर्भ में RTI की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण रही है। भारत में लंबे समय तक सार्वजनिक योजनाओं और प्रशासनिक प्रक्रियाओं में भ्रष्टाचार गंभीर समस्या रहा। नागरिकों के पास सूचनाओं तक पहुँच न होने के कारण प्रशासनिक दुरुपयोग की निगरानी कठिन थी। RTI ने नागरिकों, पत्रकारों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को सार्वजनिक अभिलेखों तक पहुँच प्रदान की, जिसके माध्यम से अनेक घोटालों, फर्जी भुगतानों और प्रशासनिक अनियमितताओं का खुलासा हुआ।

मनरेगा, राशन वितरण प्रणाली, नगरपालिका परियोजनाओं, विद्यालयों और पंचायत स्तर की योजनाओं से संबंधित अनेक मामलों में RTI के माध्यम से यह सामने आया कि सरकारी रिकॉर्ड और वास्तविक स्थिति में बड़ा अंतर था। इस प्रकार RTI ने भ्रष्टाचार को केवल नैतिक प्रश्न न रहने देकर सार्वजनिक निगरानी और लोकतांत्रिक नियंत्रण का विषय बना दिया। RTI की एक अन्य महत्त्वपूर्ण भूमिका नागरिक सशक्तिकरण (Citizen

Empowerment) में दिखाई देती है। लोकतंत्र में नागरिक तभी प्रभावी भूमिका निभा सकते हैं जब उन्हें शासन संबंधी जानकारी प्राप्त हो। सूचना तक पहुँच नागरिकों को प्रशासनिक प्रक्रियाओं की समझ प्रदान करती है तथा उन्हें अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाती है। इस कारण RTI को "knowledge is power" अर्थात "ज्ञान ही शक्ति है" की लोकतांत्रिक अवधारणा से भी जोड़ा जाता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में RTI का उपयोग अनेक गरीब और वंचित समुदायों ने मजदूरी भुगतान, पेंशन, राशन और विकास योजनाओं से संबंधित जानकारी प्राप्त करने के लिए किया। इससे प्रशासनिक प्रक्रियाओं में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी बढ़ी। RTI ने मीडिया और खोजी पत्रकारिता (Investigative Journalism) को भी सशक्त बनाया। पत्रकारों ने विभिन्न सरकारी विभागों से सूचना प्राप्त कर प्रशासनिक अनियमितताओं और नीति-संबंधी प्रश्नों को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाया।

समकालीन लोकतंत्र में मीडिया को "चौथा स्तंभ" (Fourth Pillar) कहा जाता है। RTI ने मीडिया को शासन की अधिक प्रभावी निगरानी करने का साधन प्रदान किया। सूचना का अधिकार लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की संस्कृति विकसित करने में भी महत्त्वपूर्ण रहा है। प्रशासनिक अधिकारी अब यह समझने लगे कि उनके निर्णय और कार्य सार्वजनिक समीक्षा के अधीन हो सकते हैं। यह परिवर्तन प्रशासनिक संस्कृति के स्तर पर भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि औपनिवेशिक प्रशासनिक परंपरा गोपनीयता और केंद्रीकरण पर आधारित थी। RTI ने इस मानसिकता को चुनौती दी और "लोक प्रशासन" को वास्तव में "लोक" के प्रति उत्तरदायी बनाने का प्रयास किया।

RTI और सामाजिक अंकेक्षण के बीच भी गहरा संबंध है। सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया तभी प्रभावी हो सकती है जब नागरिकों को सरकारी अभिलेखों तक पहुँच प्राप्त हो। मनरेगा जैसे कार्यक्रमों में RTI और सामाजिक अंकेक्षण ने मिलकर स्थानीय स्तर पर पारदर्शिता को मजबूत किया। हालाँकि RTI की भूमिका और प्रभाव के बावजूद अनेक चुनौतियाँ बनी हुई हैं। सबसे पहली समस्या प्रशासनिक प्रतिरोध (Administrative Resistance) की है। कई अधिकारी सूचना देने में अनावश्यक विलंब करते हैं अथवा तकनीकी आधारों पर आवेदन अस्वीकार करने का प्रयास करते हैं। दूसरी समस्या रिकॉर्ड-प्रबंधन की कमजोरी है। अनेक सरकारी विभागों में अभिलेखों का डिजिटलीकरण और व्यवस्थित संरक्षण अभी भी पर्याप्त स्तर पर नहीं हुआ है। इससे सूचना उपलब्ध कराने की प्रक्रिया प्रभावित होती है। सूचना आयोगों में लंबित मामलों की बढ़ती संख्या भी RTI की प्रभावशीलता को सीमित करती है। यदि अपीलों का निस्तारण अत्यधिक विलंब से हो, तो नागरिकों का विश्वास कमजोर हो सकता है।

RTI कार्यकर्ताओं की सुरक्षा का प्रश्न भी अत्यंत गंभीर है। कई मामलों में भ्रष्टाचार उजागर करने वाले कार्यकर्ताओं को धमकियाँ, सामाजिक दबाव और हिंसा का सामना करना पड़ा। इससे यह स्पष्ट होता है कि पारदर्शिता की प्रक्रिया केवल विधिक नहीं, बल्कि राजनीतिक और सामाजिक संघर्ष का विषय भी है।

इसके अतिरिक्त RTI और निजता (Privacy) के बीच संतुलन का प्रश्न समकालीन समय में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। डिजिटल शासन और डेटा-संग्रह के विस्तार ने यह प्रश्न उत्पन्न किया कि सार्वजनिक हित और व्यक्तिगत गोपनीयता के बीच संतुलन किस प्रकार स्थापित किया जाए।

फिर भी लोकतांत्रिक शासन की दृष्टि से RTI का ऐतिहासिक महत्त्व अत्यंत व्यापक है। इसने नागरिकों को शासन के भीतर झाँकने का अधिकार प्रदान किया तथा प्रशासनिक शक्ति-संरचना को सार्वजनिक समीक्षा के अधीन लाया। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से RTI ने लोकतंत्र को केवल प्रतिनिधिक प्रक्रिया तक सीमित नहीं रहने दिया, बल्कि उसे सहभागी और निगरानी-आधारित लोकतंत्र (Participatory and Monitoring

Democracy) की दिशा में आगे बढ़ाया। इस प्रकार सूचना का अधिकार भारतीय लोकतंत्र में पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और नागरिक सशक्तिकरण का केंद्रीय उपकरण बन चुका है। यह सुशासन की उस व्यापक अवधारणा को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है जिसमें शासन जनता के प्रति खुला, उत्तरदायी और संवेदनशील होता है।

3.10 उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम : अवधारणा एवं विकास

आधुनिक औद्योगिक और बाज़ार-आधारित समाज में उपभोक्ता (Consumer) की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गई है। उत्पादन, वितरण और उपभोग की प्रक्रियाओं के विस्तार ने वस्तुओं और सेवाओं की उपलब्धता को बढ़ाया, किन्तु इसके साथ उपभोक्ताओं के शोषण, भ्रामक विज्ञापन, मिलावटी वस्तुओं, दोषपूर्ण उत्पादों और अनुचित व्यापारिक व्यवहार की समस्याएँ भी बढ़ीं। इसी कारण आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों में उपभोक्ता संरक्षण (Consumer Protection) को नागरिक अधिकारों और उत्तरदायी शासन के महत्त्वपूर्ण आयाम के रूप में देखा जाने लगा।

उपभोक्ता संरक्षण की अवधारणा इस विचार पर आधारित है कि बाज़ार व्यवस्था में उपभोक्ता हमेशा समान शक्ति की स्थिति में नहीं होता। उत्पादक, व्यापारी और बड़ी कंपनियाँ आर्थिक और सूचनात्मक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होती हैं, जबकि सामान्य उपभोक्ता अनेक बार सीमित जानकारी और संसाधनों के कारण कमजोर स्थिति में रहता है। इस असमानता को संतुलित करने के लिए राज्य द्वारा विधिक और संस्थागत संरक्षण की व्यवस्था विकसित की गई।

उपभोक्ता अधिकारों की आधुनिक अवधारणा को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विशेष पहचान 1962 में मिली जब अमेरिकी राष्ट्रपति जॉन एफ. कैनेडी ने उपभोक्ताओं के चार मूल अधिकारों का उल्लेख किया–

- सुरक्षा का अधिकार
- जानकारी का अधिकार
- चयन का अधिकार
- सुने जाने का अधिकार

बाद में संयुक्त राष्ट्र ने भी उपभोक्ता संरक्षण के लिए दिशा-निर्देश जारी किए, जिससे यह विषय वैश्विक शासन और नागरिक अधिकारों के विमर्श का हिस्सा बना। भारतीय संदर्भ में स्वतंत्रता के बाद प्रारंभिक दशकों में राज्य का ध्यान मुख्यतः आर्थिक विकास और सार्वजनिक वितरण व्यवस्था पर केंद्रित था। किन्तु समय के साथ बाज़ार व्यवस्था के विस्तार और उपभोक्ता समस्याओं में वृद्धि के कारण उपभोक्ता संरक्षण की आवश्यकता अधिक स्पष्ट होने लगी। इसी पृष्ठभूमि में भारत सरकार ने उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 (Consumer Protection Act, 1986) पारित किया। यह अधिनियम भारतीय विधिक इतिहास में अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसने पहली बार उपभोक्ता अधिकारों को संगठित और संस्थागत रूप प्रदान किया।

आई. सक्सेना ने 'द कंज़्यूमर प्रोटेक्शन एक्ट 1986 : अ व्यूपॉइंट' (*The Consumer Protection Act 1986: A Viewpoint*) में यह स्पष्ट किया कि यह अधिनियम केवल कानूनी सुधार नहीं था, बल्कि प्रशासनिक उत्तरदायित्व और नागरिक सशक्तिकरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम था।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 का उद्देश्य उपभोक्ताओं को सरल, त्वरित और सस्ती न्याय-व्यवस्था प्रदान करना था। पारंपरिक न्यायालयों में मुकदमे लंबे समय तक चलते थे और सामान्य नागरिकों के लिए न्याय प्राप्त करना कठिन होता था।

इसी कारण उपभोक्ता विवादों के समाधान हेतु विशेष उपभोक्ता मंचों की स्थापना की गई।

इस अधिनियम के अंतर्गत "उपभोक्ता" की परिभाषा उस व्यक्ति के रूप में की गई जो किसी वस्तु या सेवा का उपयोग प्रतिफल देकर करता है।

अधिनियम ने उपभोक्ताओं को अनेक अधिकार प्रदान किए, जिनमें प्रमुख हैं–

- सुरक्षा का अधिकार
- जानकारी प्राप्त करने का अधिकार
- विकल्प चुनने का अधिकार
- शिकायत करने का अधिकार
- क्षतिपूर्ति प्राप्त करने का अधिकार
- उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार

इन अधिकारों का उद्देश्य उपभोक्ताओं को बाज़ार-आधारित शोषण से सुरक्षा प्रदान करना था।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता त्रिस्तरीय उपभोक्ता विवाद निवारण प्रणाली थी। इसमें निम्नलिखित की स्थापना की गई–

- जिला उपभोक्ता मंच
- राज्य उपभोक्ता आयोग
- राष्ट्रीय उपभोक्ता आयोग

यह व्यवस्था उपभोक्ताओं को अपेक्षाकृत सरल और कम खर्चीली न्याय-प्रक्रिया उपलब्ध कराने के उद्देश्य से विकसित की गई थी। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम का लोकतांत्रिक महत्त्व भी व्यापक है। इसने नागरिकों को केवल राजनीतिक अधिकारों तक सीमित न रखकर आर्थिक क्षेत्र में भी अधिकार-संपन्न बनाने का प्रयास किया। समकालीन शासन-सिद्धांत में यह माना जाता है कि लोकतांत्रिक राज्य का दायित्व केवल कानून-व्यवस्था बनाए रखना नहीं, बल्कि नागरिकों को आर्थिक शोषण से भी सुरक्षा प्रदान करना है। भारत में उपभोक्ता आंदोलन और जागरूकता अभियानों ने भी इस प्रक्रिया को मजबूत किया। "जागो ग्राहक जागो" जैसे सार्वजनिक अभियान उपभोक्ता शिक्षा और जागरूकता बढ़ाने के लिए प्रारंभ किए गए। समय के साथ बाज़ार और प्रौद्योगिकी की प्रकृति में परिवर्तन हुआ। ई-कॉमर्स, ऑनलाइन सेवाएँ, डिजिटल भुगतान और वैश्विक व्यापार के विस्तार ने उपभोक्ता संरक्षण के सामने नई चुनौतियाँ उत्पन्न कीं। इसी कारण 1986 के अधिनियम को अद्यतन करने की आवश्यकता महसूस की गई और उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 2019 लागू किया गया।

2019 के अधिनियम ने उपभोक्ता संरक्षण की व्यवस्था को अधिक व्यापक और आधुनिक बनाया। इसमें निम्नलिखित व्यवस्थाएँ जोड़ी गईं–

- ई-कॉमर्स से संबंधित प्रावधान
- भ्रामक विज्ञापनों पर नियंत्रण

- उत्पाद दायित्व (Product Liability)
- केंद्रीय उपभोक्ता संरक्षण प्राधिकरण (Central Consumer Protection Authority – CCPA)

विशेष रूप से ई-कॉमर्स प्लेटफ़ॉर्मों और ऑनलाइन व्यापार को विनियमित करने की दिशा में यह अधिनियम महत्त्वपूर्ण माना गया। हालाँकि उपभोक्ता संरक्षण व्यवस्था की अनेक सीमाएँ भी हैं। उपभोक्ता मंचों में मामलों का लंबित रहना, प्रक्रियात्मक विलंब, सीमित जागरूकता और ग्रामीण क्षेत्रों में संस्थागत पहुँच की कमी जैसी समस्याएँ अभी भी मौजूद हैं। इसके अतिरिक्त अनेक उपभोक्ता अपने अधिकारों के प्रति पर्याप्त रूप से जागरूक नहीं हैं। विशेष रूप से गरीब और ग्रामीण समुदायों में उपभोक्ता शिक्षा का स्तर सीमित है।

समकालीन समय में डिजिटल बाज़ार व्यवस्था ने नई समस्याएँ उत्पन्न की हैं। डेटा-आधारित विज्ञापन, ऑनलाइन धोखाधड़ी, नकली उत्पाद और साइबर अपराध उपभोक्ता संरक्षण के नए प्रश्न बन चुके हैं।

इस प्रकार उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की उस व्यापक प्रक्रिया का हिस्सा है जिसमें राज्य नागरिकों को केवल राजनीतिक अधिकार ही नहीं, बल्कि आर्थिक और सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान करने का प्रयास करता है। यह नागरिकों को बाज़ार की असमान शक्ति-संरचनाओं के विरुद्ध विधिक संरक्षण प्रदान कर लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व को अधिक व्यापक रूप देता है।

3.11 उपभोक्ता अधिकार और उपभोक्ता न्याय व्यवस्था

आधुनिक लोकतांत्रिक और बाज़ार-आधारित समाज में उपभोक्ता अधिकारों (Consumer Rights) का प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गया है। औद्योगिकीकरण, वैश्वीकरण, तकनीकी विकास और उपभोक्ता बाज़ार के विस्तार ने वस्तुओं तथा सेवाओं की उपलब्धता को अभूतपूर्व रूप से बढ़ाया है, किन्तु इसके साथ उपभोक्ताओं के शोषण, भ्रामक विज्ञापन, दोषपूर्ण उत्पाद, अनुचित व्यापारिक व्यवहार और डिजिटल धोखाधड़ी जैसी समस्याएँ भी सामने आई हैं। इसी कारण आधुनिक शासन-व्यवस्था में उपभोक्ता संरक्षण को केवल आर्थिक विषय नहीं, बल्कि नागरिक अधिकार और उत्तरदायी शासन के महत्त्वपूर्ण आयाम के रूप में देखा जाता है।

उपभोक्ता अधिकारों की अवधारणा इस सिद्धांत पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति को सुरक्षित, गुणवत्तापूर्ण और उचित मूल्य वाली वस्तुओं एवं सेवाओं तक पहुँच प्राप्त होनी चाहिए। बाज़ार व्यवस्था में उत्पादक और उपभोक्ता की शक्ति समान नहीं होती; बड़ी कंपनियाँ और व्यापारिक संस्थाएँ आर्थिक तथा तकनीकी दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होती हैं, जबकि सामान्य उपभोक्ता प्रायः सीमित जानकारी और संसाधनों के कारण कमजोर स्थिति में रहता है। इस असमानता को संतुलित करने के लिए राज्य विधिक और संस्थागत संरक्षण की व्यवस्था विकसित करता है।

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के अंतर्गत उपभोक्ताओं को अनेक अधिकार प्रदान किए गए हैं। सुरक्षा का अधिकार (Right to Safety) उपभोक्ता को उन वस्तुओं और सेवाओं से संरक्षण प्रदान करता है जो स्वास्थ्य अथवा जीवन के लिए हानिकारक हो सकती हैं। उदाहरण के लिए मिलावटी खाद्य पदार्थ, दोषपूर्ण विद्युत उपकरण अथवा असुरक्षित दवाएँ इस अधिकार के अंतर्गत आती हैं।

जानकारी प्राप्त करने का अधिकार (Right to Information) उपभोक्ता को वस्तु अथवा सेवा की गुणवत्ता, मात्रा, मूल्य, निर्माण तिथि और संभावित जोखिमों के संबंध में सही जानकारी प्राप्त करने का अधिकार देता है। यह अधिकार विशेष रूप से भ्रामक विज्ञापनों और गलत दावों के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण है। विकल्प चुनने का अधिकार

(Right to Choose) उपभोक्ता को प्रतिस्पर्धी मूल्य और गुणवत्ता के आधार पर वस्तुओं और सेवाओं के चयन की स्वतंत्रता प्रदान करता है। यह अधिकार एकाधिकारवादी व्यापारिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करता है।

सुने जाने का अधिकार (Right to be Heard) उपभोक्ता को शिकायत दर्ज करने और न्याय प्राप्त करने का अवसर देता है। यदि किसी वस्तु या सेवा में दोष हो अथवा अनुचित व्यापारिक व्यवहार किया गया हो, तो उपभोक्ता अपनी शिकायत उपभोक्ता मंचों के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है। **क्षतिपूर्ति प्राप्त करने का अधिकार (Right to Seek Redressal)** उपभोक्ता को आर्थिक अथवा मानसिक हानि की स्थिति में मुआवज़ा प्राप्त करने की व्यवस्था प्रदान करता है। **उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार (Right to Consumer Education)** उपभोक्ताओं को उनके अधिकारों और कानूनी संरक्षण के प्रति जागरूक बनाने पर बल देता है।

उपभोक्ता अधिकारों की प्रभावी सुरक्षा के लिए भारत में त्रिस्तरीय उपभोक्ता न्याय व्यवस्था विकसित की गई। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 तथा बाद में 2019 के अधिनियम के अंतर्गत जिला, राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर उपभोक्ता विवाद निवारण आयोगों की स्थापना की गई। जिला उपभोक्ता आयोग स्थानीय स्तर पर उपभोक्ता शिकायतों की सुनवाई करता है। राज्य उपभोक्ता आयोग जिला आयोगों के निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनता है तथा उच्च मूल्य के मामलों पर विचार करता है। राष्ट्रीय उपभोक्ता विवाद निवारण आयोग (National Consumer Disputes Redressal Commission – NCDRC) सर्वोच्च स्तर की उपभोक्ता संस्था है।

यह व्यवस्था पारंपरिक न्यायालयों की तुलना में अधिक सरल, त्वरित और कम खर्चीली न्याय-प्रक्रिया प्रदान करने के उद्देश्य से विकसित की गई थी। उपभोक्ता न्याय व्यवस्था का लोकतांत्रिक महत्त्व अत्यंत व्यापक है। यह नागरिकों को केवल राजनीतिक अधिकार ही नहीं, बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी न्याय और सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास करती है। आधुनिक लोकतंत्र में राज्य का दायित्व केवल शासन और सुरक्षा तक सीमित नहीं माना जाता; उसे नागरिकों को बाज़ार-आधारित शोषण से भी संरक्षण देना होता है। समकालीन समय में उपभोक्ता न्याय व्यवस्था का दायरा डिजिटल अर्थव्यवस्था तक विस्तृत हो गया है। ई-कॉमर्स, ऑनलाइन भुगतान और डिजिटल सेवाओं के विस्तार ने उपभोक्ता संरक्षण के सामने नई चुनौतियाँ उत्पन्न की हैं।

ऑनलाइन धोखाधड़ी, नकली वेबसाइटें, डेटा चोरी, भ्रामक डिजिटल विज्ञापन और दोषपूर्ण ऑनलाइन सेवाएँ आधुनिक उपभोक्ता समस्याओं के प्रमुख उदाहरण हैं। इसी कारण उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 2019 में ई-कॉमर्स प्लेटफ़ॉर्मों और डिजिटल व्यापार से संबंधित विशेष प्रावधान जोड़े गए। केंद्रीय उपभोक्ता संरक्षण प्राधिकरण (Central Consumer Protection Authority – CCPA) को भ्रामक विज्ञापनों और अनुचित व्यापारिक व्यवहार के विरुद्ध कार्रवाई करने की शक्ति प्रदान की गई।

डिजिटल बाज़ार व्यवस्था में "डेटा" स्वयं एक आर्थिक संसाधन बन चुका है। अनेक कंपनियाँ उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत सूचनाओं का उपयोग व्यापारिक लाभ के लिए करती हैं। इस कारण उपभोक्ता संरक्षण और डिजिटल निजता (Digital Privacy) के बीच संबंध भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गया है। हालाँकि उपभोक्ता न्याय व्यवस्था अनेक उपलब्धियों के बावजूद चुनौतियों से मुक्त नहीं है। सबसे बड़ी समस्या मामलों के लंबित रहने की है। अनेक उपभोक्ता आयोगों में शिकायतों के निस्तारण में अपेक्षा से अधिक समय लगता है, जिससे त्वरित न्याय का उद्देश्य प्रभावित होता है।

दूसरी समस्या उपभोक्ता जागरूकता की कमी है। ग्रामीण क्षेत्रों और वंचित समुदायों में अनेक नागरिक अपने अधिकारों और उपलब्ध कानूनी उपायों के प्रति पर्याप्त रूप से जागरूक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त बड़ी कंपनियों और कॉर्पोरेट संस्थाओं की आर्थिक शक्ति भी उपभोक्ता न्याय की प्रक्रिया को प्रभावित कर सकती है। कई बार

सामान्य उपभोक्ता के लिए बड़ी कंपनियों के विरुद्ध कानूनी संघर्ष करना कठिन होता है। समकालीन राजनीतिक और प्रशासनिक विमर्श में यह भी तर्क दिया जाता है कि उपभोक्ता संरक्षण को केवल व्यक्तिगत शिकायतों तक सीमित नहीं रखा जाना चाहिए। पर्यावरणीय सुरक्षा, खाद्य गुणवत्ता, डिजिटल अधिकार और सार्वजनिक स्वास्थ्य जैसे व्यापक प्रश्न भी उपभोक्ता अधिकारों से जुड़े हुए हैं। उपभोक्ता संरक्षण की अवधारणा लोकतांत्रिक शासन में नागरिक गरिमा (Citizen Dignity) से भी जुड़ी हुई है। जब राज्य नागरिकों को सुरक्षित और न्यायपूर्ण उपभोग की व्यवस्था प्रदान करता है, तब वह केवल आर्थिक नियमन नहीं कर रहा होता, बल्कि लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की व्यापक प्रक्रिया को मजबूत कर रहा होता है।

इस प्रकार उपभोक्ता अधिकार और उपभोक्ता न्याय व्यवस्था आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की उस संरचना का महत्त्वपूर्ण भाग हैं जो नागरिकों को बाज़ार की असमान शक्तियों से सुरक्षा प्रदान करती है तथा आर्थिक जीवन में न्याय, पारदर्शिता और उत्तरदायित्व स्थापित करने का प्रयास करती है।

3.12 सामाजिक अंकेक्षण (Social Audit) : अर्थ, प्रक्रिया एवं महत्त्व

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में केवल प्रशासनिक संस्थाओं द्वारा की जाने वाली निगरानी को पर्याप्त नहीं माना जाता। यह अनुभव किया गया कि यदि विकास योजनाओं, सार्वजनिक व्यय और कल्याणकारी कार्यक्रमों की निगरानी में नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी न हो, तो भ्रष्टाचार, संसाधनों के दुरुपयोग और प्रशासनिक अपारदर्शिता की संभावना बनी रहती है। इसी संदर्भ में सामाजिक अंकेक्षण (Social Audit) की अवधारणा विकसित हुई। सामाजिक अंकेक्षण शासन की उस प्रक्रिया को व्यक्त करता है जिसमें नागरिक स्वयं सार्वजनिक योजनाओं, प्रशासनिक कार्यों और सरकारी व्यय की समीक्षा करते हैं। यह केवल वित्तीय लेखा-परीक्षण (Financial Audit) नहीं है, बल्कि लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व और नागरिक सहभागिता का उपकरण है।

पारंपरिक लेखा-परीक्षण मुख्यतः वित्तीय अभिलेखों और प्रशासनिक प्रक्रियाओं तक सीमित रहता है, जबकि सामाजिक अंकेक्षण यह जाँचने का प्रयास करता है कि सरकारी योजनाओं का वास्तविक लाभ जनता तक पहुँचा या नहीं, योजनाओं का क्रियान्वयन किस प्रकार हुआ तथा सार्वजनिक संसाधनों का उपयोग कितना पारदर्शी और उत्तरदायी रहा। समकालीन शासन-सिद्धांत में सामाजिक अंकेक्षण को सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy) और सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Accountability) की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया माना जाता है। सामाजिक अंकेक्षण का मूल आधार यह विचार है कि लोकतंत्र में जनता केवल मतदाता नहीं है, बल्कि शासन की निगरानी और मूल्यांकन की सक्रिय सहभागी भी है। यदि नागरिकों को सरकारी अभिलेखों, योजनाओं और व्यय संबंधी सूचनाओं तक पहुँच प्राप्त हो, तो वे प्रशासनिक कार्यप्रणाली की समीक्षा कर सकते हैं। यहीं पर सूचना का अधिकार और सामाजिक अंकेक्षण का गहरा संबंध दिखाई देता है। सूचना तक पहुँच के बिना सामाजिक अंकेक्षण प्रभावी नहीं हो सकता।

भारत में सामाजिक अंकेक्षण की अवधारणा विशेष रूप से ग्रामीण विकास और कल्याणकारी योजनाओं के संदर्भ में विकसित हुई। राजस्थान में **मजदूर किसान शक्ति संगठन (MKSS)** द्वारा प्रारंभ किए गए जन-अभियानों ने इस प्रक्रिया को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाई।

इन आंदोलनों में गाँवों के नागरिकों के समक्ष सरकारी अभिलेखों को सार्वजनिक रूप से पढ़ा गया और वास्तविक स्थिति की तुलना रिकॉर्ड से की गई। इससे यह स्पष्ट हुआ कि अनेक योजनाओं में फर्जी भुगतान, मृत व्यक्तियों के नाम पर मजदूरी, अपूर्ण कार्यों को पूर्ण दिखाना तथा सार्वजनिक धन के दुरुपयोग जैसी गंभीर अनियमितताएँ मौजूद थीं। इस प्रकार सामाजिक अंकेक्षण ने प्रशासनिक पारदर्शिता को केवल सरकारी प्रक्रिया न रहने देकर सामुदायिक

और लोकतांत्रिक प्रक्रिया में परिवर्तित किया। सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया सामान्यतः कुछ चरणों में संचालित होती है। सबसे पहले सरकारी अभिलेखों और योजनाओं से संबंधित सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं। इसके बाद ग्राम सभा अथवा सार्वजनिक मंच पर इन सूचनाओं को नागरिकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है।

इसके पश्चात नागरिक वास्तविक स्थिति, लाभार्थियों के अनुभव और प्रशासनिक रिकॉर्ड की तुलना करते हैं। यदि अनियमितताएँ पाई जाती हैं, तो उन्हें सार्वजनिक रूप से उजागर किया जाता है तथा प्रशासन से जवाब माँगा जाता है। इस प्रक्रिया की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सामान्य नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन की समीक्षा करते हैं। यह प्रशासनिक शक्ति को सार्वजनिक निगरानी के अधीन लाने का लोकतांत्रिक प्रयास है। मनरेगा (महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम – MGNREGA) में सामाजिक अंकेक्षण को विशेष रूप से संस्थागत रूप प्रदान किया गया। अधिनियम के अंतर्गत ग्राम सभा को योजनाओं की समीक्षा और निगरानी का अधिकार दिया गया। सामाजिक अंकेक्षण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पारदर्शिता है। जब सरकारी रिकॉर्ड सार्वजनिक होते हैं, तब प्रशासनिक भ्रष्टाचार को छिपाना कठिन हो जाता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष **नागरिक सशक्तिकरण** है। सामाजिक अंकेक्षण नागरिकों को यह अनुभव कराता है कि शासन केवल अधिकारियों का क्षेत्र नहीं है, बल्कि जनता भी सार्वजनिक संसाधनों की संरक्षक है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष स्थानीय लोकतंत्र का सुदृढ़ीकरण है। ग्राम सभा और सामुदायिक मंचों के माध्यम से नागरिक सामूहिक रूप से प्रशासनिक प्रक्रियाओं में भाग लेते हैं। इससे लोकतांत्रिक संस्कृति और राजनीतिक जागरूकता दोनों का विस्तार होता है। सामाजिक अंकेक्षण को सुशासन (Good Governance) की दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि यह पारदर्शिता, उत्तरदायित्व और नागरिक सहभागिता जैसे सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। हालाँकि सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया चुनौतियों से मुक्त नहीं है। कई स्थानों पर प्रशासनिक सहयोग का अभाव देखा गया है। अधिकारी अभिलेख उपलब्ध कराने में अनिच्छा दिखाते हैं अथवा प्रक्रिया को औपचारिकता तक सीमित रखने का प्रयास करते हैं। दूसरी समस्या सामाजिक शक्ति-संरचना से जुड़ी हुई है। ग्रामीण क्षेत्रों में जाति, वर्ग और स्थानीय प्रभुत्व की संरचनाएँ कई बार नागरिकों की स्वतंत्र भागीदारी को सीमित करती हैं। कमजोर वर्गों के लोग प्रभावशाली समूहों के विरुद्ध खुलकर बोलने में संकोच कर सकते हैं।

तीसरी समस्या नागरिक जागरूकता और प्रशिक्षण की है। सामाजिक अंकेक्षण की प्रभावशीलता इस बात पर निर्भर करती है कि नागरिक प्रशासनिक अभिलेखों और योजनाओं की प्रकृति को किस हद तक समझते हैं। इसके अतिरिक्त कई बार सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया को केवल औपचारिक कार्यवाही बनाकर छोड़ दिया जाता है, जिससे उसका वास्तविक लोकतांत्रिक उद्देश्य कमजोर पड़ जाता है। फिर भी भारतीय लोकतंत्र में सामाजिक अंकेक्षण का ऐतिहासिक महत्त्व अत्यंत व्यापक है। इसने शासन को केवल प्रशासनिक नियंत्रण की प्रक्रिया न रहने देकर नागरिक निगरानी और सार्वजनिक उत्तरदायित्व की प्रक्रिया में परिवर्तित किया। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से सामाजिक अंकेक्षण सहभागी लोकतंत्र की उस अवधारणा को व्यावहारिक रूप देता है जिसमें नागरिक केवल प्रतिनिधियों का चयन नहीं करते, बल्कि शासन की निरंतर समीक्षा और निगरानी भी करते हैं।

इस प्रकार सामाजिक अंकेक्षण आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में पारदर्शिता, नागरिक सशक्तिकरण और सार्वजनिक उत्तरदायित्व का अत्यंत प्रभावशाली माध्यम है। यह प्रशासनिक संरचनाओं को जनता के प्रति अधिक खुला, उत्तरदायी और लोकतांत्रिक बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

3.13 भारत में सामाजिक अंकेक्षण : विशेष संदर्भ मनरेगा

भारत में सामाजिक अंकेक्षण की अवधारणा को वास्तविक संस्थागत आधार महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (मनरेगा / MGNREGA) के माध्यम से प्राप्त हुआ। मनरेगा केवल एक रोजगार योजना नहीं थी, बल्कि ग्रामीण लोकतंत्र, नागरिक सहभागिता और उत्तरदायी शासन की व्यापक परियोजना के रूप में भी देखी गई। मनरेगा अधिनियम, 2005 का मूल उद्देश्य ग्रामीण परिवारों को न्यूनतम रोजगार सुरक्षा प्रदान करना था। इसके अंतर्गत प्रत्येक ग्रामीण परिवार को प्रतिवर्ष निश्चित दिनों का अकुशल मजदूरी रोजगार उपलब्ध कराने की व्यवस्था की गई। किन्तु इस योजना का लोकतांत्रिक महत्त्व केवल रोजगार उपलब्ध कराने तक सीमित नहीं था।

अधिनियम में पारदर्शिता, ग्राम सभा की भूमिका, सार्वजनिक सूचना और सामाजिक अंकेक्षण जैसे प्रावधानों को विशेष महत्त्व दिया गया। इससे यह स्पष्ट हुआ कि योजना-क्रियान्वयन को केवल प्रशासनिक अधिकारियों के नियंत्रण में नहीं छोड़ा जाएगा, बल्कि नागरिकों को भी निगरानी और मूल्यांकन की प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाएगा। भारत में सामाजिक अंकेक्षण की पृष्ठभूमि राजस्थान के जन-आंदोलनों से जुड़ी हुई है। मजदूर किसान शक्ति संगठन (एम. के. एस. एस.) ने ग्रामीण मजदूरों और किसानों के साथ मिलकर सरकारी अभिलेखों की सार्वजनिक समीक्षा की प्रक्रिया प्रारंभ की। अरुणा रॉय, निखिल डे और उनके सहयोगियों ने यह प्रश्न उठाया कि यदि विकास योजनाओं का धन जनता के नाम पर खर्च हो रहा है, तो नागरिकों को यह जानने का अधिकार क्यों न हो कि धन का वास्तविक उपयोग कैसे हुआ। जन-सुनवाई (Public Hearing) की प्रक्रिया के माध्यम से मजदूरी भुगतान, निर्माण कार्यों और सरकारी रिकॉर्ड की सार्वजनिक जाँच की गई। अनेक मामलों में यह पाया गया कि रिकॉर्ड में जिन कार्यों को पूर्ण दिखाया गया था, वे वास्तव में अधूरे थे; मृत व्यक्तियों के नाम पर भुगतान दर्शाया गया था; तथा मजदूरों को वास्तविक मजदूरी नहीं मिली थी।

इन अनुभवों ने यह स्पष्ट किया कि प्रशासनिक पारदर्शिता केवल सरकारी लेखा-परीक्षण से संभव नहीं है। नागरिकों की प्रत्यक्ष भागीदारी आवश्यक है। मनरेगा में सामाजिक अंकेक्षण को विधिक आधार प्रदान किया गया। अधिनियम के अंतर्गत ग्राम सभा को योजनाओं की निगरानी और समीक्षा का अधिकार दिया गया।

मनरेगा के अंतर्गत सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया सामान्यतः इस प्रकार संचालित होती है–

- कार्यों और व्यय से संबंधित अभिलेखों का सार्वजनिक प्रदर्शन
- मजदूरी भुगतान और लाभार्थियों की सूची का सत्यापन
- ग्राम सभा में रिकॉर्ड का पठन
- नागरिकों और मजदूरों की गवाही
- अनियमितताओं की पहचान
- प्रशासन से जवाबदेही की माँग

यह प्रक्रिया प्रशासनिक संरचना को जनता के समक्ष उत्तरदायी बनाने का प्रयास करती है। सामाजिक अंकेक्षण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह "नीचे से ऊपर" (Bottom up) लोकतांत्रिक निगरानी की प्रक्रिया को मजबूत करता है। सामान्यतः प्रशासनिक नियंत्रण ऊपर से नीचे की दिशा में संचालित होता है, किन्तु सामाजिक अंकेक्षण में नागरिक स्वयं निगरानी की भूमिका निभाते हैं।

मनरेगा के संदर्भ में सामाजिक अंकेक्षण ने अनेक सकारात्मक परिणाम उत्पन्न किए। कई राज्यों में फर्जी जॉब कार्ड, मजदूरी अनियमितता और भ्रष्टाचार के मामलों का खुलासा हुआ। इससे सार्वजनिक व्यय की पारदर्शिता

बढ़ी। आंध्र प्रदेश को सामाजिक अंकेक्षण के सफल उदाहरणों में विशेष रूप से उल्लेखित किया जाता है। वहाँ सामाजिक अंकेक्षण की प्रक्रिया को अपेक्षाकृत अधिक संस्थागत रूप दिया गया। स्वतंत्र सामाजिक अंकेक्षण इकाइयों की स्थापना की गई तथा ग्राम स्तर पर सार्वजनिक सुनवाई आयोजित की गई। इन प्रक्रियाओं के माध्यम से हजारों अनियमितताओं की पहचान हुई तथा प्रशासनिक अधिकारियों और कर्मचारियों के विरुद्ध कार्रवाई भी की गई।

राजस्थान, तेलंगाना और कुछ अन्य राज्यों में भी सामाजिक अंकेक्षण ने स्थानीय लोकतंत्र और पारदर्शिता को मजबूत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सामाजिक अंकेक्षण का लोकतांत्रिक महत्त्व अत्यंत व्यापक है। यह नागरिकों को यह अनुभव कराता है कि लोकतंत्र केवल प्रतिनिधियों को चुनने की प्रक्रिया नहीं है, बल्कि शासन की निरंतर निगरानी और सार्वजनिक नियंत्रण की प्रक्रिया भी है। यह व्यवस्था प्रशासनिक शक्ति को सामाजिक उत्तरदायित्व के अधीन लाती है। ग्राम सभा जैसी संस्थाओं को वास्तविक भूमिका प्रदान कर स्थानीय लोकतंत्र को मजबूत करने का प्रयास किया जाता है। सामाजिक अंकेक्षण नागरिकों में अधिकार-चेतना (Rights Consciousness) भी विकसित करता है। मजदूर और ग्रामीण नागरिक योजनाओं को सरकारी "अनुग्रह" के रूप में नहीं, बल्कि अपने अधिकार के रूप में देखने लगते हैं। हालाँकि व्यावहारिक स्तर पर सामाजिक अंकेक्षण अनेक चुनौतियों से भी प्रभावित हुआ है। कई राज्यों में यह प्रक्रिया केवल औपचारिकता बनकर रह गई। रिकॉर्ड समय पर उपलब्ध नहीं कराए जाते, सार्वजनिक सुनवाई नियमित रूप से आयोजित नहीं होती और अनियमितताओं पर प्रभावी कार्रवाई नहीं की जाती।

दूसरी बड़ी समस्या स्थानीय शक्ति-संरचनाओं की है। ग्रामीण समाज में जाति, वर्ग और राजनीतिक प्रभुत्व की संरचनाएँ कई बार कमजोर वर्गों की स्वतंत्र भागीदारी को सीमित कर देती हैं। तीसरी समस्या प्रशासनिक प्रतिरोध की है। अनेक अधिकारी सामाजिक अंकेक्षण को सहयोगात्मक प्रक्रिया के बजाय नियंत्रण और आलोचना के रूप में देखते हैं।

इसके अतिरिक्त नागरिक जागरूकता और प्रशिक्षण का अभाव भी सामाजिक अंकेक्षण की प्रभावशीलता को प्रभावित करता है। प्रशासनिक अभिलेखों को समझना और योजनाओं की तकनीकी जानकारी प्राप्त करना सामान्य नागरिकों के लिए हमेशा सरल नहीं होता।

फिर भी सामाजिक अंकेक्षण ने भारतीय लोकतंत्र में उत्तरदायी शासन की अवधारणा को नई दिशा प्रदान की है। इसने यह स्पष्ट किया कि लोकतांत्रिक पारदर्शिता केवल कानूनों और संस्थाओं से नहीं, बल्कि सक्रिय नागरिक सहभागिता से भी निर्मित होती है। समकालीन शासन-विमर्श में सामाजिक अंकेक्षण को सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy), विकेंद्रीकरण (Decentralization) और सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Accountability) की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया माना जाता है। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से सामाजिक अंकेक्षण लोकतंत्र को अधिक जीवंत और सहभागी बनाता है क्योंकि यह नागरिकों को शासन-प्रक्रिया का प्रत्यक्ष निरीक्षक और मूल्यांकनकर्ता बनाता है। इस प्रकार मनरेगा के संदर्भ में सामाजिक अंकेक्षण भारतीय लोकतंत्र में पारदर्शिता, नागरिक सशक्तिकरण और उत्तरदायी शासन की दिशा में अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रयोग के रूप में उभरा है।

3.14 लोकपाल और लोकायुक्त : अवधारणा एवं विकास

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में भ्रष्टाचार (Corruption) को प्रशासनिक उत्तरदायित्व और सार्वजनिक नैतिकता के लिए गंभीर चुनौती माना जाता है। जब सार्वजनिक पदों का उपयोग निजी लाभ के लिए किया जाता है, तब

लोकतांत्रिक संस्थाओं पर नागरिकों का विश्वास कमजोर होने लगता है। इसी कारण आधुनिक राज्यों में भ्रष्टाचार-नियंत्रण के लिए स्वतंत्र और उत्तरदायी संस्थाओं की आवश्यकता अनुभव की गई।

लोकपाल और लोकायुक्त की अवधारणा इसी आवश्यकता से जुड़ी हुई है। इन संस्थाओं का उद्देश्य उच्च प्रशासनिक और राजनीतिक स्तर पर भ्रष्टाचार की शिकायतों की जाँच करना तथा शासन को अधिक उत्तरदायी बनाना है।

लोकपाल की अवधारणा का बौद्धिक स्रोत स्कैंडिनेवियाई देशों में विकसित "ओम्बुड्समैन" (Ombudsman) संस्था मानी जाती है। "ओम्बुड्समैन" शब्द स्वीडिश भाषा से लिया गया है जिसका सामान्य अर्थ "प्रतिनिधि" अथवा "जन-अभिकर्ता" माना जाता है।

स्वीडन में 1809 में ओम्बुड्समैन संस्था की स्थापना की गई थी। इसका उद्देश्य प्रशासनिक अधिकारियों के विरुद्ध नागरिक शिकायतों की जाँच करना और सार्वजनिक प्रशासन को उत्तरदायी बनाना था।

धीरे-धीरे यह अवधारणा अन्य लोकतांत्रिक देशों में भी लोकप्रिय हुई। **ओम्बुड्समैन** संस्था को प्रशासनिक भ्रष्टाचार, शक्ति के दुरुपयोग और नागरिक शिकायतों के समाधान के प्रभावी माध्यम के रूप में देखा जाने लगा।

भारत में लोकपाल की अवधारणा प्रशासनिक सुधारों और भ्रष्टाचार-नियंत्रण की बहसों के साथ विकसित हुई। स्वतंत्रता के बाद भारतीय राज्य ने कल्याणकारी शासन की व्यापक भूमिका अपनाई, किन्तु समय के साथ प्रशासनिक भ्रष्टाचार, लालफीताशाही और राजनीतिक दुरुपयोग गंभीर समस्याओं के रूप में उभरने लगे।

1960 के दशक में प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission – ARC) ने केंद्र स्तर पर लोकपाल और राज्य स्तर पर लोकायुक्त की स्थापना का सुझाव दिया। आयोग का मत था कि लोकतांत्रिक शासन में उच्च सार्वजनिक पदों पर बैठे व्यक्तियों के विरुद्ध शिकायतों की स्वतंत्र जाँच के लिए ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो सामान्य प्रशासनिक नियंत्रण से अलग हों।

"लोकपाल" शब्द भारतीय संदर्भ में विशेष रूप से निर्मित किया गया। "लोक" अर्थात जनता और "पाल" अर्थात संरक्षक। इस प्रकार लोकपाल को जनता के हितों की रक्षा करने वाली संस्था के रूप में देखा गया। लोकायुक्त राज्य स्तर की समान संस्था के रूप में विकसित की गई। भारत में लोकपाल संबंधी विधेयक पहली बार 1968 में संसद में प्रस्तुत किया गया। लोकसभा ने इसे पारित भी कर दिया था, किन्तु राज्यसभा में लंबित रहने के कारण यह विधेयक समाप्त हो गया। इसके बाद कई दशकों तक विभिन्न सरकारों ने लोकपाल विधेयक प्रस्तुत किए, किन्तु राजनीतिक सहमति के अभाव में इसे कानून का रूप नहीं दिया जा सका। इस लंबे विलंब ने यह संकेत दिया कि भ्रष्टाचार-विरोधी संस्थाओं की स्थापना केवल प्रशासनिक प्रश्न नहीं, बल्कि राजनीतिक शक्ति-संतुलन से जुड़ा विषय भी है। समकालीन भारत में भ्रष्टाचार के अनेक बड़े मामलों ने लोकपाल की आवश्यकता को और अधिक तीव्र बनाया। सार्वजनिक जीवन में भ्रष्टाचार के बढ़ते आरोपों के कारण नागरिकों के बीच प्रशासनिक उत्तरदायित्व की माँग बढ़ने लगी।

इसी संदर्भ में 2011 का भ्रष्टाचार-विरोधी जन-आंदोलन विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सामाजिक कार्यकर्ता अन्ना हज़ारे के नेतृत्व में हुए इस आंदोलन ने लोकपाल की स्थापना को राष्ट्रीय राजनीतिक विमर्श का केंद्रीय विषय बना दिया।

हालाँकि इस आंदोलन का अध्ययन करते समय यह समझना आवश्यक है कि लोकपाल की अवधारणा केवल किसी एक आंदोलन का परिणाम नहीं थी; इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि कई दशकों पुरानी प्रशासनिक सुधार बहसों

से जुड़ी हुई थी। एस. पंचु ने '**लोकपाल : व्हेयर डू वी स्टैंड नाउ, एंड हाउ वी गॉट हियर**' (Lokpal: Where Do We Stand Now, and How We Got Here) में यह स्पष्ट किया कि लोकपाल की बहस भारतीय लोकतंत्र में उत्तरदायी शासन और भ्रष्टाचार-नियंत्रण की दीर्घकालिक प्रक्रिया का हिस्सा रही है।

लोकपाल की अवधारणा का मूल उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि उच्च सार्वजनिक पदों पर बैठे व्यक्तियों के विरुद्ध शिकायतों की स्वतंत्र और निष्पक्ष जाँच हो सके। यह व्यवस्था प्रशासनिक उत्तरदायित्व को केवल निम्न स्तर तक सीमित नहीं रखती, बल्कि राजनीतिक और उच्च प्रशासनिक संरचनाओं को भी सार्वजनिक निगरानी के अधीन लाने का प्रयास करती है।

लोकपाल और लोकायुक्त की आवश्यकता के पीछे कुछ प्रमुख कारण रहे–

- उच्च स्तर पर भ्रष्टाचार के आरोप
- प्रशासनिक जवाबदेही की कमी
- पारंपरिक जाँच एजेंसियों की सीमाएँ
- नागरिकों के विश्वास में कमी
- राजनीतिक हस्तक्षेप की समस्या

इन संस्थाओं को इस प्रकार परिकल्पित किया गया कि वे सरकार से पर्याप्त रूप से स्वतंत्र रहकर निष्पक्ष जाँच कर सकें। लोकपाल की अवधारणा लोकतांत्रिक शासन में "नैतिक उत्तरदायित्व" (Moral Accountability) की धारणा से भी जुड़ी हुई है। लोकतंत्र केवल चुनावी वैधता तक सीमित नहीं हो सकता; सार्वजनिक पदों पर बैठे व्यक्तियों को नैतिक और प्रशासनिक दोनों स्तरों पर जनता के प्रति जवाबदेह होना चाहिए।

लोकपाल और लोकायुक्त की बहस में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न संस्थागत स्वतंत्रता का रहा है। यदि भ्रष्टाचार-निरोधक संस्था स्वयं राजनीतिक नियंत्रण के अधीन हो, तो उसकी प्रभावशीलता सीमित हो सकती है। इसी कारण नियुक्ति, जाँच और कार्यप्रणाली में स्वायत्तता पर बल दिया गया।

हालाँकि आलोचकों ने यह भी तर्क दिया कि केवल नई संस्थाओं की स्थापना से भ्रष्टाचार समाप्त नहीं हो सकता। भ्रष्टाचार का संबंध व्यापक राजनीतिक संस्कृति, प्रशासनिक संरचना और आर्थिक हितों से भी होता है।

कुछ विद्वानों ने यह प्रश्न भी उठाया कि क्या अत्यधिक जाँच-आधारित संस्थाएँ प्रशासनिक निर्णय-प्रक्रिया को अत्यधिक भयग्रस्त और धीमा बना सकती हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि भ्रष्टाचार-निरोधक संस्थाओं की सफलता केवल विधिक शक्तियों पर निर्भर नहीं करती; उनके लिए राजनीतिक इच्छाशक्ति, प्रशासनिक सहयोग और नागरिक जागरूकता भी आवश्यक है। फिर भी भारतीय लोकतंत्र में लोकपाल और लोकायुक्त की अवधारणा का ऐतिहासिक महत्त्व अत्यंत व्यापक है। इसने यह स्पष्ट किया कि लोकतांत्रिक शासन में उच्च सार्वजनिक पदों को भी सार्वजनिक उत्तरदायित्व और नैतिक समीक्षा के अधीन होना चाहिए। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से लोकपाल और लोकायुक्त आधुनिक लोकतंत्र में "उत्तरदायी राज्य" (Accountable State) की उस अवधारणा को सुदृढ़ करते हैं जिसमें सत्ता का प्रयोग निरंकुश न होकर विधिक और सार्वजनिक नियंत्रण के अधीन रहता है।

3.15 लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम : संरचना एवं कार्य

भारत में लंबे राजनीतिक और प्रशासनिक विमर्श के पश्चात लोकपाल और लोकायुक्त अधिनियम, 2013 (Lokpal and Lokayuktas Act, 2013) पारित किया गया। यह अधिनियम भारतीय लोकतंत्र में उच्च स्तर के भ्रष्टाचार के विरुद्ध संस्थागत उत्तरदायित्व स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम माना जाता है।

इस अधिनियम का उद्देश्य सार्वजनिक पदों पर आसीन व्यक्तियों के विरुद्ध भ्रष्टाचार संबंधी शिकायतों की स्वतंत्र जाँच की व्यवस्था स्थापित करना था। यह कानून इस विचार पर आधारित है कि लोकतांत्रिक शासन में कोई भी सार्वजनिक पद विधिक और नैतिक उत्तरदायित्व से ऊपर नहीं हो सकता।

लोकपाल एक बहु-सदस्यीय संस्था के रूप में स्थापित किया गया। अधिनियम के अनुसार लोकपाल में निम्न सदस्य हो सकते हैं–

- एक अध्यक्ष
- तथा अधिकतम आठ सदस्य

इन सदस्यों में न्यायिक और गैर-न्यायिक दोनों प्रकार के सदस्य शामिल किए जाते हैं। अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई कि सदस्यों में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ा वर्ग, अल्पसंख्यक और महिलाओं का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित किया जाए।

लोकपाल की नियुक्ति एक चयन समिति द्वारा की जाती है। इस समिति में निम्न शामिल होते हैं–

- प्रधानमंत्री
- लोकसभा अध्यक्ष
- लोकसभा में विपक्ष के नेता
- भारत के मुख्य न्यायाधीश अथवा उनके द्वारा नामित न्यायाधीश
- तथा एक विशिष्ट विधिवेत्ता

यह व्यवस्था संस्थागत संतुलन और राजनीतिक निष्पक्षता सुनिश्चित करने के उद्देश्य से विकसित की गई।

लोकपाल के अधिकार-क्षेत्र में प्रधानमंत्री, मंत्री, सांसद और केंद्रीय सरकारी कर्मचारी शामिल किए गए। हालाँकि प्रधानमंत्री को राष्ट्रीय सुरक्षा, विदेश नीति और कुछ संवेदनशील विषयों से संबंधित मामलों में सीमित संरक्षण प्रदान किया गया।

लोकपाल को भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम (Prevention of Corruption Act) के अंतर्गत आने वाले मामलों की जाँच का अधिकार दिया गया।

अधिनियम के अंतर्गत लोकपाल को शिकायत प्राप्त होने पर प्रारंभिक जाँच (Preliminary Inquiry) तथा आवश्यकता पड़ने पर विस्तृत अन्वेषण (Investigation) कराने की शक्ति प्राप्त है।

लोकपाल केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो (CBI) जैसी एजेंसियों से जाँच कराने का निर्देश दे सकता है। राज्य स्तर पर लोकायुक्त की स्थापना की व्यवस्था की गई। हालाँकि लोकायुक्तों की संरचना और शक्तियाँ विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न हैं क्योंकि राज्यों ने अपने-अपने कानून बनाए। लोकपाल अधिनियम का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य भ्रष्टाचार-निरोधक संस्थाओं को अधिक संगठित और स्वतंत्र बनाना था। अधिनियम में लोकसेवकों की **संपत्ति-घोषणा (Asset Declaration)** तथा शिकायत-निवारण से संबंधित प्रावधान भी शामिल किए गए।

इसके अतिरिक्त "व्हिसलब्लोअर" अर्थात भ्रष्टाचार उजागर करने वाले व्यक्तियों की सुरक्षा से संबंधित विमर्श भी लोकपाल बहस से जुड़ा रहा, यद्यपि इसके लिए पृथक विधिक व्यवस्था विकसित की गई। लोकपाल संस्था का लोकतांत्रिक महत्त्व केवल भ्रष्टाचार-नियंत्रण तक सीमित नहीं है। यह लोकतांत्रिक शासन में सार्वजनिक नैतिकता और प्रशासनिक उत्तरदायित्व की अवधारणा को सुदृढ़ करने का प्रयास करती है। हालाँकि अधिनियम के क्रियान्वयन से संबंधित अनेक आलोचनाएँ भी सामने आई। सबसे पहली समस्या लोकपाल की स्थापना में विलंब की रही। अधिनियम पारित होने के बाद भी लोकपाल संस्था को पूर्ण रूप से सक्रिय होने में कई वर्ष लगे। दूसरी समस्या संस्थागत स्वतंत्रता की है। आलोचकों का मत है कि यदि जाँच एजेंसियाँ पूर्णतः स्वतंत्र न हों, तो उच्च स्तर के भ्रष्टाचार की निष्पक्ष जाँच कठिन हो सकती है।

तीसरी समस्या यह है कि भ्रष्टाचार केवल व्यक्तिगत नैतिकता का प्रश्न नहीं है; यह राजनीतिक वित्तपोषण, प्रशासनिक संरचना और आर्थिक हितों से भी जुड़ा हुआ है। इसलिए केवल एक संस्था के माध्यम से भ्रष्टाचार समाप्त करना संभव नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त कुछ विद्वानों ने यह भी तर्क दिया कि अत्यधिक जाँच-आधारित प्रशासन निर्णय-प्रक्रिया को धीमा और भयग्रस्त बना सकता है। यदि अधिकारी हर निर्णय में दंडात्मक जाँच की आशंका से ग्रस्त रहें, तो प्रशासनिक दक्षता प्रभावित हो सकती है।

फिर भी लोकपाल और लोकायुक्त व्यवस्था भारतीय लोकतंत्र में उत्तरदायी शासन की दिशा में महत्त्वपूर्ण संस्थागत प्रयास मानी जाती है। इसने यह सिद्धांत स्थापित किया कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में उच्च राजनीतिक और प्रशासनिक पद भी सार्वजनिक समीक्षा और विधिक नियंत्रण के अधीन हैं।

3.16 उत्तरदायी शासन की चुनौतियाँ एवं समकालीन विमर्श

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में उत्तरदायित्व (Accountability) को सुशासन की आधारभूत शर्त माना जाता है। सूचना का अधिकार, सामाजिक अंकेक्षण, नागरिक अधिकार पत्र, उपभोक्ता संरक्षण और लोकपाल जैसी व्यवस्थाओं के माध्यम से शासन को अधिक पारदर्शी और नागरिक-केंद्रित बनाने का प्रयास किया गया है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उत्तरदायी शासन की स्थापना अनेक चुनौतियों से प्रभावित होती है। सबसे बड़ी चुनौती प्रशासनिक भ्रष्टाचार की है। भ्रष्टाचार केवल आर्थिक अनियमितता नहीं है; यह लोकतांत्रिक विश्वास को कमजोर करता है और सार्वजनिक संसाधनों के न्यायपूर्ण वितरण को प्रभावित करता है। भारत में सार्वजनिक योजनाओं, प्रशासनिक प्रक्रियाओं और राजनीतिक वित्तपोषण से जुड़े भ्रष्टाचार के प्रश्न लंबे समय से लोकतांत्रिक विमर्श का हिस्सा रहे हैं।

दूसरी महत्त्वपूर्ण चुनौती प्रशासनिक अपारदर्शिता है। सूचना का अधिकार अधिनियम के बावजूद कई विभागों में गोपनीयता की औपनिवेशिक संस्कृति बनी हुई है। रिकॉर्ड-प्रबंधन की कमजोरी, सूचना देने में विलंब तथा तकनीकी आधारों पर सूचना अस्वीकार करना इस समस्या के उदाहरण हैं। तीसरी चुनौती संस्थागत कमजोरी की है। सूचना आयोगों में लंबित मामले, उपभोक्ता आयोगों में विलंब तथा सामाजिक अंकेक्षण की औपचारिकता जैसी समस्याएँ उत्तरदायी शासन की प्रभावशीलता को सीमित करती हैं।

उत्तरदायी शासन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न नागरिक जागरूकता से जुड़ा है। लोकतांत्रिक अधिकार तभी प्रभावी हो सकते हैं जब नागरिक अपने अधिकारों और उपलब्ध संस्थागत साधनों के प्रति जागरूक हों। ग्रामीण क्षेत्रों, गरीब समुदायों और सामाजिक रूप से वंचित समूहों में जागरूकता का अभाव अनेक बार लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व को कमजोर कर देता है। समकालीन समय में डिजिटल शासन ने उत्तरदायित्व की प्रक्रिया को नई दिशा प्रदान की है। ई-गवर्नेंस, ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणाली और डिजिटल सूचना-पोर्टल ने प्रशासनिक

पारदर्शिता को बढ़ाने की संभावनाएँ उत्पन्न की हैं। किन्तु डिजिटल शासन के साथ नई चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। डिजिटल विभाजन (Digital Divide) के कारण समाज के सभी वर्ग तकनीकी संसाधनों तक समान पहुँच नहीं रखते। इसके अतिरिक्त डेटा-सुरक्षा, डिजिटल निगरानी और निजता (Privacy) से संबंधित प्रश्न आधुनिक शासन-विमर्श में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में यह बहस भी महत्त्वपूर्ण है कि पारदर्शिता और निगरानी के बीच संतुलन कैसे स्थापित किया जाए। यदि राज्य अत्यधिक डेटा-संग्रह और डिजिटल नियंत्रण पर आधारित हो जाए, तो नागरिक स्वतंत्रता प्रभावित हो सकती है। मिशेल फूको के शक्ति और निगरानी संबंधी विचारों को आधुनिक डिजिटल शासन के संदर्भ में पुनः महत्त्वपूर्ण माना जाने लगा है। समकालीन उत्तरदायी शासन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष नागरिक समाज (Civil Society) की भूमिका है। मीडिया, सामाजिक आंदोलन, जन-अभियान और गैर-सरकारी संगठन शासन को अधिक उत्तरदायी बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हालाँकि नागरिक समाज की भूमिका भी आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरिक समाज हमेशा समाज के सभी वर्गों का समान प्रतिनिधित्व नहीं करता।

उत्तरदायी शासन की बहस में सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy) की अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण है। लोकतंत्र को केवल प्रतिनिधिक व्यवस्था तक सीमित न रखकर नागरिकों की निरंतर भागीदारी पर बल दिया जाता है। ग्राम सभा, सामाजिक अंकेक्षण, जनसुनवाई और डिजिटल भागीदारी मंच इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं।

इस प्रकार उत्तरदायी शासन आधुनिक लोकतंत्र की निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया है। यह केवल कानूनों और संस्थाओं से निर्मित नहीं होता, बल्कि नागरिक जागरूकता, प्रशासनिक नैतिकता, राजनीतिक इच्छाशक्ति और लोकतांत्रिक संस्कृति से भी जुड़ा होता है।

3.17 तुलनात्मक सारणी

आधार	**नागरिक अधिकार पत्र**	**सूचना का अधिकार**	**सामाजिक अंकेक्षण**	**लोकपाल / लोकायुक्त**
उद्देश्य	सेवा-प्रदायन में उत्तरदायित्व	प्रशासनिक पारदर्शिता	सार्वजनिक योजनाओं की सामाजिक निगरानी	उच्च स्तर के भ्रष्टाचार की जाँच
प्रकृति	प्रशासनिक दस्तावेज़	विधिक अधिकार	सहभागी प्रक्रिया	वैधानिक संस्था
प्रमुख आधार	नागरिक सेवा	सूचना तक पहुँच	नागरिक सहभागिता	भ्रष्टाचार-नियंत्रण
नागरिक भूमिका	सेवा प्राप्तकर्ता	सूचना माँगने वाला नागरिक	प्रत्यक्ष निगरानीकर्ता	शिकायतकर्ता
महत्त्व	सेवा-केंद्रित शासन	पारदर्शी शासन	सहभागी लोकतंत्र	नैतिक उत्तरदायित्व

3.18 अभ्यास प्रश्न

1. उत्तरदायित्व (Accountability) की अवधारणा का अर्थ एवं महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

2. लोकतंत्र, नागरिकता और उत्तरदायी शासन के संबंध का विश्लेषण कीजिए।
3. नागरिक अधिकार पत्र (Citizen Charter) की अवधारणा एवं विकास पर चर्चा कीजिए।
4. भारत में नागरिक अधिकार पत्र की उपलब्धियों और सीमाओं का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
5. सूचना का अधिकार की अवधारणा और उसके लोकतांत्रिक महत्त्व का विवेचन कीजिए।
6. सूचना का अधिकार अधिनियम, 2005 के प्रमुख प्रावधानों का विश्लेषण कीजिए।
7. सुशासन और पारदर्शिता में सूचना के अधिकार की भूमिका पर चर्चा कीजिए।
8. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन कीजिए।
9. उपभोक्ता अधिकार और उपभोक्ता न्याय व्यवस्था का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
10. सामाजिक अंकेक्षण की अवधारणा एवं महत्त्व का विवेचन कीजिए।
11. मनरेगा के संदर्भ में सामाजिक अंकेक्षण की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
12. लोकपाल और लोकायुक्त की अवधारणा एवं विकास का अध्ययन कीजिए।
13. लोकपाल एवं लोकायुक्त अधिनियम, 2013 की संरचना और कार्यों का विश्लेषण कीजिए।
14. उत्तरदायी शासन की समकालीन चुनौतियों पर चर्चा कीजिए।

3.19 संदर्भ-सूची

- अल्मंड, गैब्रियल एवं वर्बा, सिडनी. (1963). *द सिविक कल्चर : पॉलिटिकल एटिट्यूड्स एंड डेमोक्रेसी इन फाइव नेशन्स* (*The Civic Culture: Political Attitudes and Democracy in Five Nations*). प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
- बिरकिंशॉ, पीटर. (2006). "फ्रीडम ऑफ इन्फॉर्मेशन एंड ओपेननेस : फंडामेंटल ह्यूमन राइट्स?" (*Freedom of Information and Openness: Fundamental Human Rights?*). *एडमिनिस्ट्रेटिव लॉ रिव्यू* (*Administrative Law Review*), 58(1), 177–218।
- कैपानो, गिउलिओ. (2015). "ब्रिंगिंग गवर्नमेंट्स बैक इन गवर्नेंस एंड गवर्निंग इन कम्पेरेटिव पॉलिसी एनालिसिस" (*Bringing Governments Back In Governance and Governing in Comparative Policy Analysis*). *जर्नल ऑफ कम्पेरेटिव पॉलिसी एनालिसिस* (*Journal of Comparative Policy Analysis*), 17(4), 311–321।
- क्राउ, डेविड. (2009). "हाउ सिटिज़न्स इंटरैक्ट विद देयर गवर्नमेंट एंड व्हाय वी केयर" (*How Citizens Interact with Their Government and Why We Care*). *पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन रिव्यू* (*Public Administration Review*), 69(2), 353–355।
- फॉर, डी. एल. (2012). *फ्रॉम बिग गवर्नमेंट टू बिग गवर्नेंस?* (*From "Big Government" to "Big Governance"?*). ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- हक़, एम. शम्सुल. (2007). "लिमिट्स ऑफ द सिटिज़न्स चार्टर इन इंडिया : द क्रिटिकल इम्पैक्ट्स ऑफ सोशल एक्सक्लूज़न" (*Limits of the Citizen's Charter in India: The Critical*

Impacts of Social Exclusion). *पब्लिक मैनेजमेंट रिव्यू* (*Public Management Review*), 391–416।

- जैन, आर. (2012). "गुड गवर्नेंस एंड राइट टू इन्फॉर्मेशन : ए पर्सपेक्टिव" (*Good Governance and Right to Information: A Perspective*). *जर्नल ऑफ द इंडियन लॉ इंस्टिट्यूट* (*Journal of the Indian Law Institute*), 54(4), 506–519।
- झा, आर. आर. (2018). "इंडियाज़ एंटी-करप्शन अथॉरिटीज : लोकपाल एंड लोकायुक्त" (*India's Anti-Corruption Authorities: Lokpal and Lokayukta*). *इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन* (*Indian Journal of Public Administration*), 64(3), 502–517।
- नन्थ, वी. (2011). "लोकपाल बिल कैंपेन : डेमोक्रेटिक एंड कॉन्स्टिट्यूशनल" (*Lokpal Bill Campaign: Democratic and Constitutional*). *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (*Economic and Political Weekly*), 46(16), 20–22।
- पंचु, एस. (2011). "लोकपाल : व्हेयर डू वी स्टैंड नाउ, एंड हाउ वी गॉट हियर" (*Lokpal: Where Do We Stand Now, and How We Got Here*). *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (*Economic and Political Weekly*), 46(41), 19–21।
- पंचु, एस. (2012). "रिपेयरिंग द लोकपाल बिल" (*Repairing the Lokpal Bill*). *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (*Economic and Political Weekly*), 47(3), 10–13।
- पॉल, सैमुअल. (2008). "इंडिया'ज़ सिटिज़न्स चार्टर्स : इन सर्च ऑफ ए चैंपियन" (*India's Citizen's Charters: In Search of a Champion*). *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (*Economic and Political Weekly*), 43(7), 67–73।
- सक्सेना, आई. (1988). "द कंज़्यूमर प्रोटेक्शन एक्ट 1986 : अ व्यूपॉइंट" (*The Consumer Protection Act 1986: A Viewpoint*). *जर्नल ऑफ द इंडियन लॉ इंस्टिट्यूट* (*Journal of the Indian Law Institute*), 30(3), 321–331।

नागरिक और शासन के मध्य संबंध

संरचना

4.1 अधिगम उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.3 नागरिक समाज (Civil Society): अर्थ एवं अवधारणा

4.4 नागरिक समाज का ऐतिहासिक विकास : हेगेल, ग्राम्शी एवं समकालीन विमर्श

4.5 लोकतंत्र, नागरिक समाज और शासन

4.6 सहभागी शासन (Participatory Governance) की अवधारणा

4.7 विकेंद्रीकरण, सामुदायिक भागीदारी और स्थानीय शासन

4.8 भारत में नागरिक समाज की भूमिका

4.9 सामाजिक आंदोलनों, मीडिया और गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

4.10 राज्य और नागरिक समाज : सहयोग एवं संघर्ष

4.11 दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model): पृष्ठभूमि एवं विकास

4.12 भागीदारी मॉडल की संरचना एवं कार्यप्रणाली

4.13 भागीदारी मॉडल : उपलब्धियाँ, सीमाएँ एवं आलोचनाएँ

4.14 डिजिटल शासन, नागरिक सहभागिता और समकालीन परिवर्तन

4.15 उत्तरदायी शासन और सक्रिय नागरिकता

4.16 तुलनात्मक सारणी

4.17 अभ्यास प्रश्न

4.18 संदर्भ-सूची

4.1 अधिगम उद्देश्य

इस पाठ का अध्ययन करने के पश्चात् विद्यार्थी–

- नागरिक समाज की अवधारणा तथा उसके प्रमुख सैद्धांतिक दृष्टिकोणों की व्याख्या कर पाएँगे।
- राज्य, नागरिक समाज और जनसहभागिता के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण कर पाएँगे।
- सहभागी शासन और विकेंद्रीकरण के लोकतांत्रिक महत्त्व को समझ पाएँगे।
- दिल्ली के भागीदारी मॉडल की उपलब्धियों और सीमाओं का मूल्यांकन कर पाएँगे।
- सक्रिय नागरिकता और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की समकालीन प्रासंगिकता को स्पष्ट कर पाएँगे।

4.2 प्रस्तावना

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की प्रकृति निरंतर परिवर्तनशील रही है। प्रारंभिक उदारवादी राजनीतिक विचार में राज्य और नागरिक के संबंध को मुख्यतः विधिक अधिकारों तथा प्रतिनिधिक संस्थाओं के माध्यम से समझा जाता था। नागरिकों की भूमिका मुख्यतः मतदान, कर-भुगतान और विधि के पालन तक सीमित मानी जाती थी। किन्तु समकालीन लोकतांत्रिक विमर्श में यह धारणा व्यापक रूप से परिवर्तित हुई है। अब नागरिकों को केवल शासन के अधीन रहने वाले व्यक्तियों के रूप में नहीं, बल्कि शासन-प्रक्रिया के **सक्रिय सहभागी** (Active Participants) के रूप में देखा जाता है। इसी परिवर्तन ने **"सहभागी शासन"** (Participatory Governance), **"नागरिक समाज"** (Civil Society) तथा **"सक्रिय नागरिकता"** (Active Citizenship) जैसी अवधारणाओं को राजनीतिक विज्ञान और लोक प्रशासन के अध्ययन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

आधुनिक लोकतंत्र की सफलता केवल संवैधानिक संस्थाओं पर निर्भर नहीं करती; यह नागरिकों की सहभागिता, सार्वजनिक विश्वास, सामुदायिक सहयोग और लोकतांत्रिक संस्कृति पर भी निर्भर करती है। यदि शासन और नागरिकों के मध्य संवाद कमजोर हो जाए, तो लोकतांत्रिक संस्थाएँ औपचारिक होकर रह सकती हैं। इसी कारण समकालीन शासन-सिद्धांत यह स्वीकार करता है कि प्रभावी शासन केवल ऊपर से नीचे (Top to bottom) संचालित प्रशासनिक नियंत्रण से संभव नहीं है। शासन को नागरिकों, समुदायों, गैर-सरकारी संगठनों, स्थानीय समूहों और सामाजिक संस्थाओं के साथ सहयोगात्मक संबंध स्थापित करने होते हैं। **एड्रियन लेफ्टविच ने 'गवर्नेंस, द स्टेट एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपमेंट'** (Governance, the State and the Politics of Development) में यह स्पष्ट किया कि शासन की प्रक्रिया केवल राज्य-संस्थाओं तक सीमित नहीं है; इसमें सामाजिक शक्तियाँ, नागरिक संगठन और सामुदायिक नेटवर्क भी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

इसी प्रकार समकालीन शासन-विमर्श में "गवर्नमेंट" (Government) और "गवर्नेंस" (Governance) के बीच अंतर पर विशेष बल दिया जाता है। "गवर्नमेंट" से आशय औपचारिक राज्य-संस्थाओं से है, जबकि "गवर्नेंस" एक व्यापक प्रक्रिया है जिसमें राज्य, बाजार और नागरिक समाज मिलकर सार्वजनिक निर्णयों और नीतियों को प्रभावित करते हैं।

भारत जैसे बहुलतावादी और लोकतांत्रिक समाज में नागरिक और शासन के संबंध का प्रश्न विशेष महत्त्व रखता है। भारतीय संविधान ने लोकतांत्रिक अधिकारों, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था के माध्यम से नागरिक सहभागिता के अनेक अवसर प्रदान किए। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर प्रशासनिक केंद्रीकरण, लालफीताशाही, सामाजिक असमानता और राजनीतिक वर्चस्व जैसी समस्याओं ने नागरिकों और शासन के बीच दूरी भी उत्पन्न की। इसी पृष्ठभूमि में नागरिक समाज संगठनों, सामाजिक आंदोलनों, जन-अभियानों और सहभागी शासन की प्रक्रियाओं का विकास हुआ। भारत में सूचना का अधिकार आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन, महिला आंदोलन, भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान तथा सामाजिक अंकेक्षण जैसी प्रक्रियाएँ नागरिक समाज की सक्रिय भूमिका के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। समकालीन शहरी शासन में भी नागरिक सहभागिता को विशेष महत्त्व दिया गया है। दिल्ली सरकार का **"भागीदारी मॉडल" (Bhagidari Model)** सहभागी शासन का उल्लेखनीय उदाहरण माना जाता है। इस मॉडल का उद्देश्य सरकार और नागरिक समूहों, विशेष रूप से रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों (Resident Welfare Associations – RWAs), के मध्य संवाद और सहयोग स्थापित करना था।

दिल्ली सरकार के अनुसार भागीदारी योजना का मूल उद्देश्य शासन में नागरिकों की भागीदारी बढ़ाना तथा विभिन्न सरकारी विभागों और नागरिक समूहों के मध्य संवाद स्थापित करना था ताकि स्थानीय समस्याओं के समाधान

सामूहिक रूप से खोजे जा सकें। समकालीन शासन-विमर्श में डिजिटल तकनीक ने भी नागरिक और शासन के संबंधों को नई दिशा प्रदान की है। ऑनलाइन शिकायत निवारण प्रणाली, ई-गवर्नेंस, डिजिटल सहभागिता मंच और सोशल मीडिया आधारित संवाद ने नागरिकों को शासन से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ने के नए अवसर दिए हैं। किन्तु नागरिक सहभागिता की प्रक्रिया चुनौतियों से मुक्त नहीं है। सामाजिक असमानता, डिजिटल विभाजन, संसाधनों की विषमता तथा प्रतिनिधित्व की सीमाएँ कई बार सहभागी शासन को प्रभावित करती हैं।

कुछ विद्वानों ने यह तर्क भी दिया है कि नागरिक समाज हमेशा समाज के सभी वर्गों का समान प्रतिनिधित्व नहीं करता। दिल्ली के भागीदारी मॉडल पर हुए कुछ अध्ययनों में यह आलोचना की गई कि इसमें मध्यवर्गीय रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों की भूमिका अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली रही, जबकि शहरी गरीब और अनौपचारिक बस्तियों की भागीदारी सीमित रही। फिर भी यह स्पष्ट है कि आधुनिक लोकतंत्र में नागरिक और शासन के संबंधों को केवल चुनावी राजनीति तक सीमित नहीं रखा जा सकता। लोकतांत्रिक शासन को प्रभावी बनाने के लिए निरंतर संवाद, सार्वजनिक सहभागिता, सामाजिक उत्तरदायित्व और सामुदायिक सहयोग आवश्यक हैं।

इस इकाई में नागरिक समाज, सहभागी शासन, विकेंद्रीकरण और नागरिक सहभागिता की अवधारणाओं का अध्ययन किया जाएगा। विशेष रूप से दिल्ली के भागीदारी मॉडल के माध्यम से यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि आधुनिक शहरी शासन में राज्य और नागरिकों के बीच सहयोगात्मक संबंध किस प्रकार विकसित किए जाते हैं।

4.3 नागरिक समाज (Civil Society): अर्थ एवं अवधारणा

आधुनिक राजनीतिक विज्ञान और शासन-अध्ययन में "नागरिक समाज" (Civil Society) की अवधारणा अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। समकालीन लोकतांत्रिक विमर्श में यह स्वीकार किया जाता है कि राज्य और नागरिकों के मध्य संबंध केवल औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं के माध्यम से निर्धारित नहीं होते, बल्कि अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और सामुदायिक संगठन भी शासन-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इन संगठनों और सामाजिक संरचनाओं के व्यापक क्षेत्र को सामान्यतः नागरिक समाज कहा जाता है। नागरिक समाज की अवधारणा का सामान्य अर्थ राज्य और परिवार के मध्य स्थित उस सामाजिक क्षेत्र से है जहाँ नागरिक स्वैच्छिक रूप से संगठित होकर सामूहिक हितों, अधिकारों और सामाजिक उद्देश्यों के लिए कार्य करते हैं।

इस क्षेत्र में गैर-सरकारी संगठन (NGOs), सामाजिक आंदोलन, श्रमिक संगठन, महिला संगठन, मानवाधिकार समूह, छात्र संगठन, धार्मिक संस्थाएँ, मीडिया, सामुदायिक संघ तथा पेशेवर संगठन शामिल हो सकते हैं। नागरिक समाज का मूल आधार स्वैच्छिक सहभागिता (Voluntary Participation) है। यह राज्य के प्रत्यक्ष नियंत्रण से बाहर कार्य करने वाला ऐसा क्षेत्र है जहाँ नागरिक सामूहिक रूप से सार्वजनिक मुद्दों पर हस्तक्षेप करते हैं।

आधुनिक लोकतांत्रिक सिद्धांत में नागरिक समाज को लोकतंत्र और उत्तरदायी शासन के लिए अत्यंत आवश्यक माना जाता है क्योंकि यह राज्य की शक्ति पर सामाजिक नियंत्रण स्थापित करने का कार्य करता है। नागरिक समाज की अवधारणा का बौद्धिक विकास लंबे ऐतिहासिक क्रम में हुआ है। प्रारंभिक उदारवादी विचारकों ने नागरिक समाज को सभ्य सामाजिक जीवन और विधि-आधारित व्यवस्था के रूप में देखा। जॉन लॉक जैसे विचारकों ने नागरिक समाज को सामाजिक अनुबंध और विधिक अधिकारों से जोड़ा। उनके अनुसार नागरिक समाज का उद्देश्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना था। किन्तु आधुनिक अर्थ में नागरिक समाज की अवधारणा का अधिक विकसित रूप हेगेल के राजनीतिक दर्शन में दिखाई देता है। जॉर्ज विल्हेम फ्रेडरिक हेगेल ने नागरिक समाज को राज्य और परिवार के मध्य स्थित क्षेत्र के रूप में समझाया। उनके अनुसार परिवार भावनात्मक

और नैतिक एकता का क्षेत्र है, जबकि राज्य सार्वभौमिक नैतिकता और राजनीतिक एकता का प्रतिनिधित्व करता है।

नागरिक समाज इन दोनों के मध्य स्थित वह क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति अपने निजी हितों, आर्थिक गतिविधियों और सामाजिक संबंधों के माध्यम से कार्य करता है। हेगेल के अनुसार नागरिक समाज में प्रतिस्पर्धा, आर्थिक हित और सामाजिक असमानताएँ मौजूद रहती हैं; इसलिए राज्य की भूमिका इन विरोधों को संतुलित करने की होती है। कार्ल मार्क्स ने नागरिक समाज की अवधारणा की आलोचनात्मक व्याख्या की। उनके अनुसार नागरिक समाज मुख्यतः आर्थिक संबंधों और वर्गीय हितों का क्षेत्र है। मार्क्स का मत था कि पूँजीवादी समाज में नागरिक समाज वास्तव में बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक प्रभुत्व को संरक्षित करता है। इस प्रकार उन्होंने नागरिक समाज को वर्गीय शक्ति-संरचना के संदर्भ में समझा। बीसवीं शताब्दी में एंटोनियो ग्राम्शी ने नागरिक समाज की अवधारणा को नई वैचारिक दिशा प्रदान की। ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज केवल आर्थिक हितों का क्षेत्र नहीं है, बल्कि यह वैचारिक और सांस्कृतिक वर्चस्व (Hegemony) का भी क्षेत्र है। उन्होंने यह तर्क दिया कि शासक वर्ग केवल राजनीतिक शक्ति के माध्यम से शासन नहीं करता, बल्कि शिक्षा, मीडिया, धर्म और सांस्कृतिक संस्थाओं के माध्यम से समाज में वैचारिक सहमति भी निर्मित करता है।

ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज सत्ता-संघर्ष का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है क्योंकि यहीं पर प्रभुत्व और प्रतिरोध दोनों की प्रक्रियाएँ विकसित होती हैं। समकालीन लोकतांत्रिक विमर्श में नागरिक समाज को लोकतंत्र के "मध्यवर्ती क्षेत्र" (Intermediate Sphere) के रूप में देखा जाता है। यह राज्य और नागरिकों के बीच संवाद, आलोचना और सहभागिता का माध्यम बनता है। गैब्रियल आल्मंड और सिडनी वर्बा ने 'द सिविक कल्चर' (*The Civic Culture*) में यह तर्क दिया कि लोकतंत्र की सफलता केवल संवैधानिक संस्थाओं पर निर्भर नहीं करती; सक्रिय नागरिक संस्कृति और सामाजिक संगठनों की भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण होती है।

समकालीन शासन-अध्ययन में नागरिक समाज को सुशासन (Good Governance) और सहभागी शासन (Participatory Governance) से भी जोड़ा जाता है। विश्व बैंक और संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) जैसे अंतरराष्ट्रीय संस्थानों ने भी विकास-प्रक्रिया में नागरिक समाज की भूमिका पर बल दिया है। उनके अनुसार नागरिक समाज शासन को अधिक उत्तरदायी, पारदर्शी और सहभागी बनाने में योगदान देता है।

भारतीय संदर्भ में नागरिक समाज की भूमिका विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रही है। स्वतंत्रता आंदोलन स्वयं व्यापक नागरिक समाज और जन-संगठनों की सक्रियता पर आधारित था।

महात्मा गाँधी ने राजनीतिक संघर्ष को केवल राज्य-सत्ता प्राप्ति तक सीमित नहीं रखा, बल्कि सामाजिक संगठन, नैतिक चेतना और सामुदायिक सहभागिता पर भी बल दिया। स्वतंत्रता के बाद भारत में अनेक सामाजिक आंदोलनों और गैर-सरकारी संगठनों ने लोकतांत्रिक विमर्श को प्रभावित किया। पर्यावरण आंदोलन, महिला आंदोलन, दलित आंदोलन, सूचना का अधिकार आंदोलन तथा भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान नागरिक समाज की सक्रिय भूमिका के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। नागरिक समाज शासन को केवल चुनौती ही नहीं देता, बल्कि कई बार सहयोगात्मक भूमिका भी निभाता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, ग्रामीण विकास और पर्यावरण संरक्षण जैसे क्षेत्रों में अनेक नागरिक संगठन राज्य के साथ मिलकर कार्य करते हैं।

दिल्ली का भागीदारी मॉडल नागरिक समाज और शासन के सहयोगात्मक संबंध का महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है। इसमें रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों तथा नागरिक समूहों को स्थानीय शासन-प्रक्रिया में सम्मिलित करने का प्रयास किया गया।हालाँकि नागरिक समाज की अवधारणा आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। कुछ विद्वानों का मत

है कि नागरिक समाज हमेशा समान रूप से प्रतिनिधिक नहीं होता। आर्थिक रूप से शक्तिशाली और शिक्षित समूह कई बार अधिक प्रभावशाली भूमिका निभाते हैं, जबकि गरीब और हाशिए के समुदाय अपेक्षाकृत कम प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं।

नवउदारवादी शासन के संदर्भ में भी यह आलोचना की गई कि कई बार राज्य अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को नागरिक समाज और गैर-सरकारी संगठनों पर स्थानांतरित करने लगता है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि सभी नागरिक समाज संगठन लोकतांत्रिक और प्रगतिशील नहीं होते; कुछ संगठन सांप्रदायिक, बहिष्कारी अथवा हिंसात्मक प्रवृत्तियों को भी बढ़ावा दे सकते हैं। फिर भी समकालीन लोकतंत्र में नागरिक समाज का महत्त्व अत्यंत व्यापक है। यह लोकतांत्रिक संवाद, सार्वजनिक आलोचना, सामाजिक जागरूकता और नागरिक सहभागिता को सुदृढ़ करता है। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से नागरिक समाज लोकतंत्र को केवल राज्य-सत्ता तक सीमित नहीं रहने देता, बल्कि उसे सामाजिक जीवन की व्यापक प्रक्रिया में परिवर्तित करता है।

इस प्रकार नागरिक समाज आधुनिक लोकतांत्रिक शासन की ऐसी महत्त्वपूर्ण संरचना है जो राज्य और नागरिकों के मध्य संवाद, सहभागिता, प्रतिरोध और सहयोग के विविध रूपों को व्यक्त करती है।

4.4 नागरिक समाज का ऐतिहासिक विकास : हेगेल, ग्राम्शी एवं समकालीन विमर्श

नागरिक समाज (Civil Society) की अवधारणा आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत की अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं में से एक है। यद्यपि समकालीन शासन-विमर्श में इसका व्यापक उपयोग होता है, किन्तु इसका बौद्धिक विकास लंबे ऐतिहासिक और दार्शनिक क्रम से होकर गुज़रा है। विभिन्न विचारकों ने अपने-अपने ऐतिहासिक संदर्भों में नागरिक समाज की भिन्न व्याख्याएँ प्रस्तुत कीं। प्रारंभिक उदारवादी राजनीतिक विचार में नागरिक समाज को सभ्य सामाजिक जीवन और विधिक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में समझा जाता था। जॉन लॉक जैसे विचारकों के लिए नागरिक समाज का उद्देश्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा करना था। सामाजिक अनुबंध के माध्यम से व्यक्ति ऐसी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं जो जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति की सुरक्षा सुनिश्चित करे।

किन्तु आधुनिक अर्थ में नागरिक समाज की व्यवस्थित दार्शनिक व्याख्या जॉर्ज विल्हेम फ्रेडरिक हेगेल के विचारों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। हेगेल ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'फिलॉसफी ऑफ राइट' (*Philosophy of Right*) में समाज की संरचना को तीन प्रमुख क्षेत्रों में विभाजित किया–

- परिवार
- नागरिक समाज
- राज्य

उनके अनुसार परिवार भावनात्मक और नैतिक एकता का क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति सामूहिकता और आत्मीय संबंधों के आधार पर जुड़ा रहता है। इसके विपरीत नागरिक समाज वह क्षेत्र है जहाँ व्यक्ति अपने निजी हितों, आर्थिक गतिविधियों और सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कार्य करता है। हेगेल के अनुसार नागरिक समाज आधुनिक आर्थिक जीवन और बाज़ार व्यवस्था से गहराई से जुड़ा हुआ है। इसमें प्रतिस्पर्धा, श्रम-विभाजन, आर्थिक असमानता और स्वार्थपरक संबंध मौजूद रहते हैं।

इस कारण हेगेल नागरिक समाज को पूर्ण नैतिक एकता का क्षेत्र नहीं मानते थे। उनके अनुसार नागरिक समाज में अनेक विरोधाभास उत्पन्न होते हैं जिन्हें संतुलित करने के लिए राज्य की आवश्यकता होती है। हेगेल के लिए

राज्य केवल राजनीतिक शक्ति का उपकरण नहीं था, बल्कि वह सार्वभौमिक नैतिकता (Universal Ethical Order) का प्रतिनिधि था। इस प्रकार उन्होंने नागरिक समाज और राज्य को परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक संबंधों में देखा। कार्ल मार्क्स ने हेगेल की नागरिक समाज संबंधी अवधारणा की आलोचनात्मक पुनर्व्याख्या की।

मार्क्स के अनुसार नागरिक समाज मुख्यतः आर्थिक संबंधों और वर्गीय संरचनाओं का क्षेत्र है। उन्होंने यह तर्क दिया कि पूँजीवादी समाज में नागरिक समाज वास्तव में बुर्जुआ वर्ग के प्रभुत्व को संरक्षित करता है। मार्क्स की दृष्टि में राज्य और नागरिक समाज दोनों पूँजीवादी उत्पादन संबंधों से प्रभावित होते हैं। इसलिए नागरिक समाज को केवल स्वतंत्र सामाजिक क्षेत्र के रूप में नहीं देखा जा सकता; यह वर्गीय शक्ति-संरचना से गहराई से जुड़ा होता है। मार्क्सवादी परंपरा में नागरिक समाज को आर्थिक और वैचारिक प्रभुत्व की संरचना के रूप में समझने की प्रवृत्ति विकसित हुई। बीसवीं शताब्दी में एंटोनियो ग्राम्शी ने नागरिक समाज की अवधारणा को नई वैचारिक दिशा प्रदान की। ग्राम्शी के विचार समकालीन राजनीतिक सिद्धांत और सांस्कृतिक अध्ययन में अत्यंत प्रभावशाली माने जाते हैं।

ग्राम्शी ने यह प्रश्न उठाया कि पूँजीवादी समाज में शासक वर्ग केवल दमनकारी शक्ति के माध्यम से शासन कैसे बनाए नहीं रखता, बल्कि सामाजिक सहमति (Consent) भी कैसे प्राप्त करता है। इसी संदर्भ में उन्होंने "वर्चस्व" (Hegemony) की अवधारणा विकसित की।

ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज वह क्षेत्र है जहाँ शासक वर्ग अपनी वैचारिक और सांस्कृतिक प्रभुता स्थापित करता है। विद्यालय, मीडिया, धार्मिक संस्थाएँ, साहित्य, सांस्कृतिक संगठन और बौद्धिक वर्ग इस प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। उनके अनुसार सत्ता केवल राज्य की दमनकारी संस्थाओं के माध्यम से संचालित नहीं होती; यह समाज की सांस्कृतिक चेतना और वैचारिक संरचनाओं में भी उपस्थित रहती है। किन्तु ग्राम्शी नागरिक समाज को केवल प्रभुत्व का क्षेत्र नहीं मानते। उनके अनुसार यही क्षेत्र प्रतिरोध और वैकल्पिक राजनीतिक चेतना के विकास का भी आधार बन सकता है।

इस प्रकार नागरिक समाज सत्ता-संघर्ष का महत्त्वपूर्ण क्षेत्र बन जाता है जहाँ प्रभुत्व और प्रतिरोध दोनों की प्रक्रियाएँ साथ-साथ कार्य करती हैं। समकालीन लोकतांत्रिक विमर्श में ग्राम्शी के विचारों का विशेष प्रभाव दिखाई देता है, विशेषकर सामाजिक आंदोलनों, मीडिया, सांस्कृतिक राजनीति और वैकल्पिक जन-राजनीति के अध्ययन में।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद लोकतांत्रिक शासन और विकास-विमर्श में नागरिक समाज की अवधारणा को नई महत्ता प्राप्त हुई।

1980 और 1990 के दशकों में विशेष रूप से यह विचार उभरा कि राज्य अकेले विकास और लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया को प्रभावी रूप से संचालित नहीं कर सकता। नागरिक समाज की सक्रिय भूमिका आवश्यक है। विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) और अन्य अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं ने भी विकास-प्रक्रिया में नागरिक समाज संगठनों की भूमिका पर बल दिया।

समकालीन शासन-सिद्धांत में नागरिक समाज को सुशासन (Good Governance), सहभागी शासन (Participatory Governance) और लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व (Democratic Accountability) से जोड़ा जाता है। पर्यावरण आंदोलन, मानवाधिकार अभियान, महिला आंदोलन, सूचना का अधिकार आंदोलन और भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन नागरिक समाज की समकालीन सक्रियता के प्रमुख उदाहरण माने जाते हैं। भारतीय संदर्भ में नागरिक समाज का विकास औपनिवेशिक शासन-विरोधी संघर्ष से भी जुड़ा रहा। भारतीय राष्ट्रीय

आंदोलन केवल राजनीतिक नेतृत्व तक सीमित नहीं था; इसमें छात्र संगठन, महिला संगठन, किसान आंदोलन, सामाजिक सुधार आंदोलन और जन-संगठन सक्रिय रूप से सम्मिलित थे।

महात्मा गाँधी ने राजनीतिक संघर्ष को नैतिक और सामाजिक चेतना से जोड़ते हुए नागरिक समाज की सक्रिय भूमिका पर विशेष बल दिया। स्वतंत्रता के बाद भारत में दलित आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन, नर्मदा बचाओ आंदोलन, सूचना का अधिकार आंदोलन और महिला संगठनों ने लोकतांत्रिक विमर्श को व्यापक बनाया। समकालीन समय में डिजिटल मीडिया और सोशल मीडिया ने नागरिक समाज की प्रकृति को भी बदल दिया है। अब नागरिक समूह डिजिटल मंचों के माध्यम से जनमत निर्माण, अभियान और राजनीतिक संवाद में भाग लेते हैं।

हालाँकि डिजिटल नागरिक समाज के सामने भी चुनौतियाँ मौजूद हैं। गलत सूचना (Misinformation), ऑनलाइन घृणा, कॉर्पोरेट नियंत्रण और डिजिटल निगरानी जैसे प्रश्न समकालीन लोकतांत्रिक विमर्श में अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गए हैं। नागरिक समाज की अवधारणा आलोचनाओं से भी मुक्त नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरिक समाज हमेशा लोकतांत्रिक और समावेशी नहीं होता। कई बार प्रभावशाली वर्ग और मध्यवर्गीय समूह नागरिक समाज के संसाधनों और मंचों पर अधिक नियंत्रण स्थापित कर लेते हैं।

इसके अतिरिक्त नवउदारवादी शासन के संदर्भ में यह आलोचना भी की गई कि राज्य अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों को गैर-सरकारी संगठनों पर स्थानांतरित कर सकता है। फिर भी आधुनिक लोकतंत्र में नागरिक समाज का महत्त्व अत्यंत व्यापक बना हुआ है। यह लोकतांत्रिक विमर्श, सार्वजनिक आलोचना, सामाजिक सहभागिता और वैकल्पिक राजनीतिक चेतना के विकास में केंद्रीय भूमिका निभाता है। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से नागरिक समाज आधुनिक लोकतंत्र की उस जीवंत सामाजिक संरचना का प्रतिनिधित्व करता है जिसमें राज्य और नागरिकों के मध्य संवाद, संघर्ष, सहयोग और प्रतिरोध की प्रक्रियाएँ निरंतर संचालित होती रहती हैं।

4.5 लोकतंत्र, नागरिक समाज और शासन

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में राज्य, नागरिक और समाज के संबंधों को समझे बिना लोकतंत्र की वास्तविक प्रकृति को समझना संभव नहीं है। लोकतंत्र केवल संवैधानिक संस्थाओं और चुनावी प्रक्रियाओं का नाम नहीं है; यह ऐसी व्यापक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्था है जिसमें नागरिक सक्रिय रूप से सार्वजनिक जीवन में भाग लेते हैं और शासन-प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। इसी संदर्भ में नागरिक समाज (Civil Society) लोकतंत्र और शासन के मध्य महत्त्वपूर्ण सेतु के रूप में उभरता है।

लोकतंत्र की मूल अवधारणा जनसत्ता (Popular Sovereignty) पर आधारित है। इसका अर्थ है कि राजनीतिक शक्ति का अंतिम स्रोत जनता होती है। किन्तु व्यावहारिक स्तर पर लोकतांत्रिक शासन केवल चुनावों तक सीमित नहीं रह सकता। यदि नागरिकों की भूमिका केवल मतदान तक सीमित हो जाए, तो लोकतंत्र औपचारिक प्रक्रिया बनकर रह सकता है। इसी कारण समकालीन लोकतांत्रिक सिद्धांत में नागरिक समाज को लोकतंत्र की जीवंतता बनाए रखने वाला महत्त्वपूर्ण क्षेत्र माना जाता है।

नागरिक समाज लोकतंत्र में कई महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। सबसे पहले, यह नागरिकों को संगठित होकर सार्वजनिक मुद्दों पर हस्तक्षेप करने का अवसर प्रदान करता है। व्यक्ति अकेले राज्य अथवा बड़ी संस्थाओं के सामने कमजोर हो सकता है, किन्तु संगठित नागरिक समूह सामूहिक रूप से शासन को प्रभावित कर सकते हैं।

दूसरे, नागरिक समाज लोकतांत्रिक संवाद और सार्वजनिक विमर्श को सशक्त बनाता है। मीडिया, सामाजिक आंदोलन, छात्र संगठन, महिला संगठन और मानवाधिकार समूह सार्वजनिक नीतियों पर बहस उत्पन्न करते हैं

तथा वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। तीसरे, नागरिक समाज शासन पर सामाजिक नियंत्रण स्थापित करता है। सूचना का अधिकार आंदोलन, सामाजिक अंकेक्षण और भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

इस प्रकार नागरिक समाज लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व (Democratic Accountability) को मजबूत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। गैब्रियल आल्मंड और सिडनी वर्बा ने 'द सिविक कल्चर' (*The Civic Culture*) में यह तर्क दिया कि लोकतंत्र की सफलता केवल राजनीतिक संस्थाओं पर निर्भर नहीं करती, बल्कि नागरिक संस्कृति और सामाजिक सहभागिता पर भी निर्भर करती है।

उनके अनुसार यदि नागरिक सक्रिय, जागरूक और सहभागी हों, तो लोकतांत्रिक संस्थाएँ अधिक स्थिर और उत्तरदायी बनती हैं। समकालीन शासन-विमर्श में "गवर्नेंस" (Governance) की अवधारणा नागरिक समाज की भूमिका को और अधिक महत्त्वपूर्ण बनाती है। पारंपरिक "गवर्नमेंट" (Government) मॉडल में शासन मुख्यतः राज्य-संस्थाओं के माध्यम से संचालित माना जाता था। किन्तु "गवर्नेंस" की अवधारणा यह स्वीकार करती है कि सार्वजनिक नीतियों और प्रशासनिक प्रक्रियाओं को प्रभावित करने में अनेक गैर-राज्यीय संस्थाएँ भी भूमिका निभाती हैं।

एड्रियन लेफ्टविच ने 'गवर्नेंस, डेमोक्रेसी एंड डेवलपमेंट इन द थर्ड वर्ल्ड' (Governance, Democracy and Development in the Third World) में यह स्पष्ट किया कि विकासशील समाजों में शासन की प्रभावशीलता नागरिक समाज, राजनीतिक संस्थाओं और प्रशासनिक संरचनाओं के परस्पर संबंधों पर निर्भर करती है। समकालीन लोकतंत्रों में नागरिक समाज शासन का केवल आलोचक नहीं है; वह कई बार सहयोगात्मक भूमिका भी निभाता है।

शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण, महिला सशक्तिकरण और ग्रामीण विकास जैसे क्षेत्रों में अनेक गैर-सरकारी संगठन राज्य के साथ मिलकर कार्य करते हैं। भारत में स्व-सहायता समूह (Self Help Groups), महिला संगठनों, पंचायत-आधारित सामुदायिक समूहों और नागरिक अभियानों ने स्थानीय शासन को प्रभावित किया है। दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model) नागरिक समाज और शासन के सहयोगात्मक संबंध का उल्लेखनीय उदाहरण माना जाता है। इस पहल के अंतर्गत रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों, बाज़ार संघों और नागरिक समूहों को शहरी प्रशासन की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास किया गया। (source: delhi.gov.in)

इस मॉडल का उद्देश्य शासन को अधिक सहभागी, पारदर्शी और नागरिक-केंद्रित बनाना था।

लोकतंत्र और नागरिक समाज के संबंध का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष "सार्वजनिक क्षेत्र" (Public Sphere) की अवधारणा भी है। जर्गेन हेबरमास ने सार्वजनिक क्षेत्र को ऐसा सामाजिक क्षेत्र माना जहाँ नागरिक सार्वजनिक मुद्दों पर विचार-विमर्श और आलोचनात्मक बहस करते हैं। लोकतांत्रिक समाज में स्वतंत्र मीडिया, नागरिक संगठन और सार्वजनिक विमर्श लोकतांत्रिक चेतना को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

हालाँकि नागरिक समाज और लोकतंत्र का संबंध सदैव सरल और सकारात्मक नहीं होता।

कुछ विद्वानों का मत है कि नागरिक समाज हमेशा समान रूप से प्रतिनिधिक नहीं होता। शिक्षित और आर्थिक रूप से संपन्न समूह नागरिक समाज में अधिक प्रभावशाली भूमिका निभा सकते हैं, जबकि गरीब और हाशिए के समुदाय अपेक्षाकृत कम प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं। दिल्ली के भागीदारी मॉडल की आलोचना करते हुए कुछ अध्ययनों में यह तर्क दिया गया कि इसमें मध्यवर्गीय रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों की भूमिका अधिक प्रमुख रही, जबकि झुग्गी-बस्ती क्षेत्रों और अनौपचारिक श्रमिक समुदायों की भागीदारी सीमित थी।

इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि सभी नागरिक समाज संगठन लोकतांत्रिक और समावेशी नहीं होते। कुछ संगठन सांप्रदायिकता, सामाजिक बहिष्कार अथवा हिंसात्मक राजनीति को भी बढ़ावा दे सकते हैं। समकालीन समय में डिजिटल मीडिया ने नागरिक समाज और लोकतंत्र के संबंध को नई दिशा दी है। सोशल मीडिया अभियानों, ऑनलाइन याचिकाओं और डिजिटल आंदोलनों ने नागरिक सहभागिता के नए रूप विकसित किए हैं।

अरब स्प्रिंग, भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और पर्यावरणीय आंदोलनों में डिजिटल नागरिक समाज की भूमिका व्यापक रूप से देखी गई। किन्तु डिजिटल लोकतंत्र के सामने भी गंभीर चुनौतियाँ मौजूद हैं। फेक न्यूज़, ऑनलाइन घृणा, एल्गोरिथ्मिक नियंत्रण और डेटा-आधारित राजनीतिक प्रचार लोकतांत्रिक विमर्श को प्रभावित कर सकते हैं। इस प्रकार आधुनिक लोकतंत्र में नागरिक समाज शासन और जनता के मध्य महत्त्वपूर्ण संवाद-क्षेत्र के रूप में कार्य करता है। यह लोकतंत्र को केवल चुनावी व्यवस्था तक सीमित नहीं रहने देता, बल्कि उसे सामाजिक सहभागिता, सार्वजनिक आलोचना और नागरिक सक्रियता की निरंतर प्रक्रिया में परिवर्तित करता है।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से लोकतंत्र, नागरिक समाज और शासन का संबंध आधुनिक सार्वजनिक जीवन की केंद्रीय संरचना का निर्माण करता है। प्रभावी लोकतंत्र के लिए केवल मजबूत राज्य पर्याप्त नहीं है; सक्रिय नागरिक समाज, सहभागी नागरिकता और उत्तरदायी शासन भी उतने ही आवश्यक हैं।

4.6 सहभागी शासन (Participatory Governance) की अवधारणा

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में यह विचार तेजी से विकसित हुआ है कि केवल प्रतिनिधिक संस्थाएँ (Representative Institutions) लोकतंत्र को पूर्णतः प्रभावी नहीं बना सकतीं। यदि नागरिकों की भूमिका केवल समय-समय पर मतदान करने तक सीमित रह जाए, तो शासन और जनता के बीच दूरी उत्पन्न हो सकती है। इसी कारण समकालीन राजनीतिक सिद्धांत और लोक प्रशासन में "सहभागी शासन" (Participatory Governance) की अवधारणा को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। सहभागी शासन का सामान्य अर्थ ऐसी शासन-व्यवस्था से है जिसमें नागरिक केवल नीतियों के निष्क्रिय प्राप्तकर्ता न रहकर नीति-निर्माण, क्रियान्वयन, निगरानी और मूल्यांकन की प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग लें।

यह अवधारणा लोकतंत्र को अधिक जीवंत, उत्तरदायी और नागरिक-केंद्रित बनाने का प्रयास करती है।

पारंपरिक प्रशासनिक संरचना मुख्यतः केंद्रीकृत और नौकरशाही-आधारित थी। निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया उच्च प्रशासनिक और राजनीतिक स्तरों पर केंद्रित रहती थी तथा सामान्य नागरिकों की भूमिका सीमित होती थी।

किन्तु समय के साथ यह अनुभव किया गया कि अनेक सार्वजनिक नीतियाँ इसलिए प्रभावी नहीं हो पातीं क्योंकि उनमें स्थानीय समुदायों और नागरिकों की वास्तविक भागीदारी नहीं होती। इसी पृष्ठभूमि में सहभागी शासन की अवधारणा विकसित हुई।

सहभागी शासन का बौद्धिक आधार सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy) के सिद्धांत में निहित है। सहभागी लोकतंत्र के विचारक यह तर्क देते हैं कि लोकतंत्र केवल प्रतिनिधियों के चुनाव तक सीमित नहीं रहना चाहिए; नागरिकों को सार्वजनिक निर्णयों में निरंतर भागीदारी का अवसर मिलना चाहिए। कैरोल पेटमैन जैसी विचारकों ने यह तर्क दिया कि नागरिक सहभागिता लोकतंत्र को अधिक वैध और उत्तरदायी बनाती है।

सहभागी शासन का मूल आधार यह विचार है कि स्थानीय समुदाय अपने जीवन से संबंधित समस्याओं और आवश्यकताओं को बेहतर ढंग से समझते हैं। इसलिए नीति-निर्माण और विकास योजनाओं में उनकी भागीदारी से शासन अधिक प्रभावी और न्यायपूर्ण बन सकता है। समकालीन शासन-विमर्श में सहभागी शासन को सुशासन

(Good Governance) से भी जोड़ा जाता है। पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, विकेंद्रीकरण और नागरिक सहभागिता को सुशासन के प्रमुख तत्व माना जाता है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) तथा विश्व बैंक जैसे अंतरराष्ट्रीय संस्थानों ने भी विकास-प्रक्रिया में सामुदायिक सहभागिता पर बल दिया है।
सहभागी शासन की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

- नागरिक सहभागिता
- विकेंद्रीकरण
- पारदर्शिता
- सामुदायिक निर्णय-निर्माण
- सामाजिक उत्तरदायित्व
- सहयोगात्मक शासन

इन विशेषताओं का उद्देश्य शासन को अधिक लोकतांत्रिक और नागरिक-केंद्रित बनाना है। भारत में सहभागी शासन की अवधारणा का संबंध स्थानीय स्वशासन और विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया से गहराई से जुड़ा हुआ है। 73वें और 74वें संविधान संशोधनों के माध्यम से पंचायतों और नगरीय निकायों को संवैधानिक आधार प्रदान किया गया। इसका उद्देश्य स्थानीय समुदायों को निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में अधिक भूमिका देना था। ग्राम सभा को विशेष रूप से सहभागी लोकतंत्र की आधारभूत संस्था के रूप में देखा गया। ग्राम सभा के माध्यम से नागरिक स्थानीय योजनाओं, विकास कार्यों और संसाधनों के उपयोग पर चर्चा कर सकते हैं। मनरेगा में सामाजिक अंकेक्षण तथा पंचायत-आधारित निगरानी सहभागी शासन के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। इसी प्रकार शहरी शासन में भी सहभागी प्रक्रियाओं को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया। दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model) सहभागी शासन का उल्लेखनीय उदाहरण माना जाता है।

इस मॉडल में रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों, नागरिक समूहों और सरकारी विभागों के मध्य संवाद स्थापित करने का प्रयास किया गया ताकि स्थानीय समस्याओं का समाधान सहयोगात्मक रूप से किया जा सके। (delhi.gov.in)

सहभागी शासन की प्रक्रिया शासन को केवल आदेश-आधारित प्रशासनिक संरचना न रहने देकर संवाद और सहयोग की प्रक्रिया में परिवर्तित करती है। समकालीन डिजिटल तकनीक ने सहभागी शासन को नई दिशा प्रदान की है। ई-गवर्नेंस, ऑनलाइन जन-सुनवाई, डिजिटल शिकायत-निवारण मंच और सोशल मीडिया आधारित संवाद ने नागरिक सहभागिता के नए अवसर उत्पन्न किए हैं।

सरकारी पोर्टलों के माध्यम से नागरिक सुझाव, शिकायतें और प्रतिक्रियाएँ सीधे प्रशासन तक पहुँचा सकते हैं। हालाँकि सहभागी शासन की प्रक्रिया अनेक चुनौतियों से भी प्रभावित होती है।

सबसे पहली चुनौती सामाजिक असमानता की है। समाज के सभी वर्गों को समान स्तर की भागीदारी प्राप्त नहीं होती। आर्थिक रूप से संपन्न, शिक्षित और संगठित समूह अधिक प्रभावशाली भूमिका निभा सकते हैं, जबकि गरीब और हाशिए के समुदाय पीछे रह जाते हैं। दूसरी चुनौती प्रतिनिधित्व की है। कई बार सहभागी मंचों पर वही समूह प्रभावी हो जाते हैं जिनके पास संसाधन और सामाजिक शक्ति अधिक होती है।

तीसरी चुनौती प्रशासनिक इच्छाशक्ति की है। यदि सरकारी संस्थाएँ नागरिक सहभागिता को वास्तविक रूप से स्वीकार न करें, तो सहभागी शासन केवल औपचारिक प्रक्रिया बनकर रह सकता है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक जटिल प्रशासनिक प्रक्रियाएँ भी नागरिकों की प्रभावी भागीदारी को सीमित कर सकती हैं।

डिजिटल सहभागी शासन के संदर्भ में डिजिटल विभाजन (Digital Divide) भी महत्त्वपूर्ण समस्या है। सभी नागरिकों के पास तकनीकी संसाधनों और इंटरनेट तक समान पहुँच नहीं है। फिर भी सहभागी शासन का लोकतांत्रिक महत्त्व अत्यंत व्यापक है। यह नागरिकों को केवल शासन के विषय (Subjects) के रूप में नहीं, बल्कि सक्रिय लोकतांत्रिक भागीदारों (Democratic Participants) के रूप में स्थापित करता है। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से सहभागी शासन लोकतंत्र को अधिक जीवंत, उत्तरदायी और सामाजिक रूप से समावेशी बनाने का प्रयास करता है। यह अवधारणा इस विचार को सुदृढ़ करती है कि लोकतंत्र केवल प्रतिनिधियों के माध्यम से संचालित राजनीतिक व्यवस्था नहीं, बल्कि नागरिकों की निरंतर सहभागिता और सार्वजनिक संवाद की प्रक्रिया है।

4.7 विकेंद्रीकरण, सामुदायिक भागीदारी और स्थानीय शासन

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में विकेंद्रीकरण (Decentralization) को लोकतंत्र को अधिक सहभागी, उत्तरदायी और प्रभावी बनाने का महत्त्वपूर्ण माध्यम माना जाता है। विशाल और विविधतापूर्ण समाजों में केवल केंद्रीकृत प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से शासन संचालित करना अनेक बार कठिन हो जाता है। इसी कारण आधुनिक शासन-सिद्धांत स्थानीय संस्थाओं, सामुदायिक भागीदारी और विकेंद्रित प्रशासन पर विशेष बल देता है।

विकेंद्रीकरण का सामान्य अर्थ प्रशासनिक, राजनीतिक और वित्तीय शक्तियों का उच्च स्तर से निम्न स्तर की संस्थाओं को हस्तांतरण है। इसका उद्देश्य स्थानीय समुदायों को निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में अधिक भूमिका प्रदान करना तथा शासन को नागरिकों के निकट लाना है।

लोकतांत्रिक विकेंद्रीकरण (Democratic Decentralization) केवल प्रशासनिक सुविधा का प्रश्न नहीं है; यह लोकतंत्र को सामाजिक स्तर तक विस्तृत करने की प्रक्रिया है।

भारत में विकेंद्रीकरण की अवधारणा का संबंध महात्मा गाँधी के ग्राम स्वराज (Gram Swaraj) के विचार से भी जोड़ा जाता है। गाँधी का मत था कि लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति गाँवों और स्थानीय समुदायों में निहित होनी चाहिए।

स्वतंत्रता के पश्चात पंचायती राज संस्थाओं के विकास का प्रयास किया गया, किन्तु लंबे समय तक ये संस्थाएँ पर्याप्त शक्तियों और संसाधनों के अभाव में सीमित प्रभावशीलता रखती थीं।

भारत में विकेंद्रीकरण की दिशा में ऐतिहासिक परिवर्तन 73वें और 74वें संविधान संशोधनों (1992) के माध्यम से आया।

73वें संविधान संशोधन ने पंचायती राज संस्थाओं को संवैधानिक दर्जा प्रदान किया। इसके अंतर्गत त्रिस्तरीय संरचना को मान्यता दी गई। –

- ग्राम पंचायत
- पंचायत समिति
- जिला परिषद

इसी प्रकार 74वें संविधान संशोधन ने नगरीय स्थानीय निकायों (Urban Local Bodies) को संवैधानिक आधार प्रदान किया।

इन संशोधनों का उद्देश्य स्थानीय स्वशासन को सुदृढ़ करना तथा नागरिक सहभागिता को बढ़ाना था।

ग्राम सभा को विशेष रूप से सहभागी लोकतंत्र की आधारभूत संस्था के रूप में देखा गया। ग्राम सभा स्थानीय नागरिकों का सामूहिक मंच है जहाँ विकास योजनाओं, संसाधनों और सार्वजनिक कार्यों पर चर्चा की जाती है।

ग्राम सभा स्थानीय शासन को केवल प्रशासनिक प्रक्रिया न रहने देकर सामुदायिक सहभागिता की प्रक्रिया में परिवर्तित करती है।

संगीता एस. ने 'डिसेंट्रलाइजेशन फॉर गुड गवर्नेंस एंड सर्विस डिलीवरी इन इंडिया' (*Decentralisation for Good Governance and Service Delivery in India*) में यह तर्क दिया कि विकेंद्रीकरण स्थानीय स्तर पर सेवा-प्रदायन और प्रशासनिक उत्तरदायित्व को अधिक प्रभावी बना सकता है, बशर्ते स्थानीय संस्थाओं को पर्याप्त संसाधन और अधिकार प्राप्त हों।

विकेंद्रीकरण का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष सामुदायिक भागीदारी (Community Participation) है।

जब स्थानीय समुदाय विकास योजनाओं, सार्वजनिक व्यय और प्रशासनिक प्रक्रियाओं में भाग लेते हैं, तब शासन अधिक उत्तरदायी और पारदर्शी बन सकता है।

मनरेगा में सामाजिक अंकेक्षण तथा पंचायत आधारित निगरानी इस प्रक्रिया के महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

स्थानीय शासन में महिलाओं, अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था भी लोकतांत्रिक समावेशन की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम मानी गई।

इससे राजनीतिक प्रतिनिधित्व का आधार व्यापक हुआ और अनेक वंचित समुदायों को स्थानीय शासन में भागीदारी का अवसर मिला।

नगरीय शासन में भी नागरिक सहभागिता की आवश्यकता को महत्त्व दिया गया। नगरपालिकाएँ, नगर निगम और वार्ड समितियाँ स्थानीय शहरी प्रशासन की महत्त्वपूर्ण संस्थाएँ हैं।

दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model) शहरी सहभागी शासन का उल्लेखनीय उदाहरण माना जाता है। इसमें नागरिक समूहों और सरकारी विभागों के मध्य सहयोगात्मक संवाद स्थापित करने का प्रयास किया गया।

हालाँकि विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया चुनौतियों से भी प्रभावित होती है। अनेक स्थानीय संस्थाएँ वित्तीय संसाधनों और प्रशासनिक क्षमता की कमी से जूझती हैं।

इसके अतिरिक्त स्थानीय सत्ता-संरचनाएँ, जातिगत प्रभुत्व और राजनीतिक हस्तक्षेप भी सहभागी शासन को प्रभावित कर सकते हैं।

फिर भी लोकतांत्रिक शासन की दृष्टि से विकेंद्रीकरण और सामुदायिक भागीदारी का महत्त्व अत्यंत व्यापक है। यह शासन को अधिक निकट, उत्तरदायी और सहभागी बनाने का प्रयास करता है।

4.8 भारत में नागरिक समाज की भूमिका

भारतीय लोकतंत्र में नागरिक समाज (Civil Society) की भूमिका अत्यंत व्यापक और बहुआयामी रही है। भारत जैसे विशाल और सामाजिक रूप से विविध समाज में लोकतंत्र की सफलता केवल संवैधानिक संस्थाओं

पर निर्भर नहीं रही; सामाजिक आंदोलनों, जन-संगठनों, गैर-सरकारी संस्थाओं और नागरिक अभियानों ने भी लोकतांत्रिक विमर्श को गहराई से प्रभावित किया है।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन स्वयं नागरिक समाज की व्यापक सक्रियता का उदाहरण था। छात्र संगठन, महिला संगठन, किसान आंदोलन, श्रमिक संगठन और सामाजिक सुधार आंदोलनों ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध राजनीतिक चेतना विकसित की।

महात्मा गाँधी ने राजनीतिक संघर्ष को सामाजिक और नैतिक चेतना से जोड़ते हुए जन-सहभागिता पर विशेष बल दिया।

स्वतंत्रता के बाद भी नागरिक समाज ने लोकतांत्रिक अधिकारों और सामाजिक न्याय के प्रश्नों को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाया।

पर्यावरण आंदोलन भारतीय नागरिक समाज की महत्त्वपूर्ण सक्रियता का उदाहरण है। चिपको आंदोलन में ग्रामीण समुदायों और विशेष रूप से महिलाओं ने जंगलों की रक्षा के लिए सामूहिक प्रतिरोध किया।

इसी प्रकार नर्मदा बचाओ आंदोलन ने बड़े बाँधों, विस्थापन और विकास नीति के प्रश्नों को राष्ट्रीय स्तर पर बहस का विषय बनाया।

महिला आंदोलनों ने लैंगिक समानता, घरेलू हिंसा, कार्यस्थल पर उत्पीड़न और राजनीतिक प्रतिनिधित्व जैसे मुद्दों को सार्वजनिक विमर्श में प्रमुखता प्रदान की।

दलित आंदोलनों ने सामाजिक न्याय, समानता और सम्मान के प्रश्नों को लोकतांत्रिक राजनीति के केंद्र में स्थापित किया।

समकालीन भारत में सूचना का अधिकार आंदोलन नागरिक समाज की सबसे प्रभावशाली उपलब्धियों में से एक माना जाता है। राजस्थान में मजदूर किसान शक्ति संगठन (MKSS) द्वारा प्रारंभ किए गए जन-अभियानों ने प्रशासनिक पारदर्शिता और नागरिक अधिकारों के प्रश्न को राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचाया। इस आंदोलन ने यह सिद्ध किया कि लोकतंत्र में सूचना तक पहुँच नागरिकों का अधिकार है, न कि राज्य का अनुग्रह।

इसी प्रकार सामाजिक अंकेक्षण और जन-सुनवाई जैसी प्रक्रियाओं ने शासन को अधिक उत्तरदायी बनाने में योगदान दिया।

भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन भी नागरिक समाज की सक्रिय भूमिका का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। 2011 के जन-आंदोलन ने लोकपाल और प्रशासनिक उत्तरदायित्व के प्रश्न को व्यापक राष्ट्रीय विमर्श में परिवर्तित किया।

गैर-सरकारी संगठन (NGOs) शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण, महिला सशक्तिकरण, बाल अधिकार और ग्रामीण विकास जैसे क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं।

अनेक स्थानों पर ये संगठन राज्य और स्थानीय समुदायों के मध्य सेतु का कार्य करते हैं।

समकालीन शासन-विमर्श में नागरिक समाज को सुशासन (Good Governance), सहभागी शासन (Participatory Governance) और सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Accountability) से जोड़ा जाता है।

मीडिया भी नागरिक समाज का अत्यंत प्रभावशाली घटक माना जाता है। खोजी पत्रकारिता, सार्वजनिक बहस और शासन की आलोचनात्मक समीक्षा लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व को सुदृढ़ करती है।

हालाँकि भारतीय नागरिक समाज की भूमिका आलोचनाओं से मुक्त नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि नागरिक समाज के मंचों पर मध्यवर्गीय और शहरी समूहों का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक रहता है।

इसके अतिरिक्त विदेशी वित्तपोषण, प्रतिनिधित्व और वैचारिक पक्षधरता से संबंधित बहसें भी समय-समय पर सामने आती रही हैं।

फिर भी भारतीय लोकतंत्र में नागरिक समाज ने लोकतांत्रिक अधिकारों, सामाजिक न्याय और सार्वजनिक उत्तरदायित्व को मजबूत करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

4.9 सामाजिक आंदोलनों, मीडिया और गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका

आधुनिक लोकतंत्र में सामाजिक आंदोलन, मीडिया और गैर-सरकारी संगठन (NGOs) नागरिक समाज की सक्रिय और प्रभावशाली शक्तियों के रूप में उभरकर सामने आए हैं। ये संस्थाएँ केवल राज्य की आलोचना ही नहीं करतीं, बल्कि सार्वजनिक जागरूकता, नीति-निर्माण, सामाजिक सुधार और नागरिक अधिकारों की रक्षा में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

सामाजिक आंदोलन (Social Movements) सामूहिक राजनीतिक और सामाजिक हस्तक्षेप की प्रक्रियाएँ हैं जिनके माध्यम से नागरिक समूह किसी विशेष सामाजिक, आर्थिक अथवा राजनीतिक प्रश्न पर परिवर्तन की माँग करते हैं।

भारतीय लोकतंत्र में किसान आंदोलन, महिला आंदोलन, पर्यावरण आंदोलन, दलित आंदोलन और मानवाधिकार आंदोलन इसके प्रमुख उदाहरण हैं। सामाजिक आंदोलनों का सबसे बड़ा योगदान यह है कि वे उन प्रश्नों को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनाते हैं जिन्हें औपचारिक राजनीतिक संस्थाएँ कई बार पर्याप्त महत्त्व नहीं देतीं।

उदाहरण के लिए चिपको आंदोलन ने पर्यावरणीय संरक्षण और स्थानीय समुदायों के अधिकारों के प्रश्न को राष्ट्रीय स्तर पर प्रमुखता दिलाई। इसी प्रकार सूचना का अधिकार आंदोलन ने प्रशासनिक पारदर्शिता को लोकतांत्रिक अधिकार के रूप में स्थापित किया।

मीडिया आधुनिक लोकतंत्र में "चौथा स्तंभ" (Fourth Pillar) माना जाता है। इसका मुख्य कार्य शासन, राजनीति और सार्वजनिक संस्थाओं की निगरानी करना तथा नागरिकों तक सूचना पहुँचाना है। स्वतंत्र मीडिया लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व की प्रक्रिया को सुदृढ़ करता है क्योंकि वह सत्ता-संरचनाओं की आलोचनात्मक समीक्षा कर सकता है। खोजी पत्रकारिता (Investigative Journalism) ने अनेक भ्रष्टाचार मामलों और प्रशासनिक अनियमितताओं को सार्वजनिक किया है। समकालीन समय में डिजिटल मीडिया और सोशल मीडिया ने नागरिक सहभागिता के नए रूप विकसित किए हैं। ऑनलाइन अभियान, डिजिटल याचिकाएँ और सोशल मीडिया आधारित आंदोलन लोकतांत्रिक संवाद को नई दिशा दे रहे हैं।

हालाँकि मीडिया की भूमिका आलोचनाओं से भी घिरी हुई है। कॉर्पोरेट स्वामित्व, राजनीतिक प्रभाव, सनसनीखेज़ी और फेक न्यूज़ जैसी समस्याएँ लोकतांत्रिक विमर्श को प्रभावित कर सकती हैं। गैर-सरकारी संगठन (NGOs) भी समकालीन शासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, महिला सशक्तिकरण, बाल अधिकार, पर्यावरण और ग्रामीण विकास जैसे क्षेत्रों में अनेक संगठन सक्रिय हैं। ये संगठन कई बार उन क्षेत्रों में कार्य करते हैं जहाँ राज्य की पहुँच सीमित होती है। गैर-सरकारी संगठन नीति-निर्माण को प्रभावित करने, जागरूकता फैलाने, प्रशिक्षण प्रदान करने और सामाजिक अनुसंधान करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

समकालीन शासन-विमर्श में राज्य और NGOs के संबंध को "सहयोगात्मक शासन" (Collaborative Governance) के रूप में भी देखा जाता है।

हालाँकि गैर-सरकारी संगठनों की भूमिका पर आलोचनात्मक प्रश्न भी उठाए गए हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि कई NGOs विदेशी वित्तपोषण और परियोजना-आधारित कार्यप्रणाली के कारण स्थानीय समुदायों से पर्याप्त रूप से जुड़ नहीं पाते।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा गया कि कुछ NGOs लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व के बिना ही "जनता की आवाज़" होने का दावा करते हैं। फिर भी आधुनिक लोकतंत्र में सामाजिक आंदोलन, मीडिया और गैर-सरकारी संगठन लोकतांत्रिक चेतना, नागरिक सहभागिता और उत्तरदायी शासन को सुदृढ़ करने में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से ये संस्थाएँ लोकतंत्र को केवल चुनावी राजनीति तक सीमित नहीं रहने देतीं, बल्कि उसे निरंतर सार्वजनिक विमर्श, सामाजिक संघर्ष और नागरिक सक्रियता की प्रक्रिया में परिवर्तित करती हैं।

4.10 राज्य और नागरिक समाज : सहयोग एवं संघर्ष

आधुनिक लोकतांत्रिक शासन में राज्य (State) और नागरिक समाज (Civil Society) के संबंध अत्यंत जटिल, बहुआयामी और परिवर्तनशील रहे हैं। दोनों के संबंध को केवल सहयोग अथवा केवल संघर्ष के रूप में नहीं समझा जा सकता। अनेक परिस्थितियों में नागरिक समाज राज्य के साथ मिलकर विकास, सेवा-प्रदायन और सामाजिक सुधार की दिशा में कार्य करता है, जबकि अन्य परिस्थितियों में वही नागरिक समाज राज्य की नीतियों, प्रशासनिक दमन अथवा सामाजिक अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर भी बन जाता है।

राज्य और नागरिक समाज के संबंध का प्रश्न आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत का केंद्रीय विषय रहा है। उदारवादी विचारधारा सामान्यतः नागरिक समाज को राज्य की शक्ति पर नियंत्रण स्थापित करने वाले स्वतंत्र क्षेत्र के रूप में देखती है।

इसके विपरीत मार्क्सवादी परंपरा नागरिक समाज को वर्गीय शक्ति-संबंधों और वैचारिक प्रभुत्व से जोड़कर देखती है। ग्राम्शी के अनुसार नागरिक समाज सत्ता-संघर्ष का ऐसा क्षेत्र है जहाँ प्रभुत्व और प्रतिरोध दोनों की प्रक्रियाएँ कार्य करती हैं।

समकालीन शासन-विमर्श में राज्य और नागरिक समाज के संबंध को "सहभागी शासन" (Participatory Governance) और "सहयोगात्मक शासन" (Collaborative Governance) के संदर्भ में भी समझा जाता है।

आधुनिक कल्याणकारी राज्य (Welfare State) अनेक सामाजिक और विकासात्मक कार्यों का दायित्व निभाता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, पर्यावरण संरक्षण, महिला सशक्तिकरण और ग्रामीण विकास जैसे क्षेत्रों में राज्य अकेले कार्य नहीं कर सकता।

इसी कारण कई बार नागरिक समाज संगठन राज्य के सहयोगी के रूप में कार्य करते हैं।

भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य और ग्रामीण विकास के क्षेत्र में अनेक गैर-सरकारी संगठन सरकारी संस्थाओं के साथ मिलकर कार्य करते हैं।

स्व-सहायता समूह, महिला संगठन और सामुदायिक विकास समितियाँ स्थानीय शासन और सामाजिक विकास को मजबूत करने में योगदान देती हैं।

दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model) राज्य और नागरिक समाज के सहयोगात्मक संबंध का महत्त्वपूर्ण उदाहरण माना जाता है। इस मॉडल में दिल्ली सरकार ने रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों, बाज़ार संघों और नागरिक समूहों को शहरी प्रशासन की प्रक्रिया से जोड़ने का प्रयास किया। (source: delhi.gov.in)

इस पहल का उद्देश्य शासन को अधिक सहभागी और नागरिक-केंद्रित बनाना था।

सामाजिक अंकेक्षण भी राज्य और नागरिक समाज के सहयोगात्मक संबंध का महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। मनरेगा जैसी योजनाओं में ग्राम सभा और नागरिक समूहों को सार्वजनिक व्यय और प्रशासनिक कार्यों की निगरानी का अधिकार दिया गया।

हालाँकि राज्य और नागरिक समाज का संबंध सदैव सहयोगात्मक नहीं रहता। अनेक परिस्थितियों में नागरिक समाज राज्य की नीतियों का विरोध भी करता है।

पर्यावरण आंदोलन, भूमि-अधिग्रहण विरोधी आंदोलन, मानवाधिकार अभियान और भ्रष्टाचार-विरोधी आंदोलन इसके प्रमुख उदाहरण हैं।

नर्मदा बचाओ आंदोलन ने विकास नीति, विस्थापन और पर्यावरणीय न्याय के प्रश्नों पर राज्य की नीतियों को चुनौती दी।

इसी प्रकार सूचना का अधिकार आंदोलन ने प्रशासनिक गोपनीयता और भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष किया।

लोकतांत्रिक व्यवस्था में यह संघर्ष नकारात्मक प्रक्रिया नहीं माना जाता; बल्कि इसे लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व का आवश्यक भाग समझा जाता है।

नागरिक समाज शासन की आलोचना कर लोकतंत्र को अधिक उत्तरदायी और संवेदनशील बनाने का कार्य करता है।

हालाँकि राज्य और नागरिक समाज के संबंधों में तनाव और संघर्ष की स्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं।

कई बार राज्य नागरिक समाज संगठनों को "विकास-विरोधी", "राजनीतिक रूप से प्रेरित" अथवा "राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध" बताकर सीमित करने का प्रयास कर सकता है।

इसके विपरीत कुछ नागरिक संगठन राज्य को अत्यधिक केंद्रीकृत, दमनकारी अथवा कॉर्पोरेट हितों से प्रभावित मानते हैं।

विदेशी अंशदान विनियमन अधिनियम (Foreign Contribution Regulation Act – FCRA) से संबंधित बहसें भी राज्य और NGOs के संबंधों की जटिलता को दर्शाती हैं।

राज्य का तर्क होता है कि विदेशी वित्तपोषण से संबंधित पारदर्शिता और राष्ट्रीय सुरक्षा सुनिश्चित करना आवश्यक है, जबकि कुछ नागरिक समाज संगठन इसे अपनी स्वायत्तता पर नियंत्रण के रूप में देखते हैं।

राज्य और नागरिक समाज के संबंधों में प्रतिनिधित्व का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है।

सभी नागरिक समाज संगठन समाज के सभी वर्गों का समान प्रतिनिधित्व नहीं करते। कई बार मध्यवर्गीय और शहरी समूह नागरिक समाज के मंचों पर अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं, जबकि गरीब और हाशिए के समुदाय अपेक्षाकृत कम प्रतिनिधित्व प्राप्त करते हैं।

समकालीन डिजिटल युग में राज्य और नागरिक समाज के संबंधों को नई दिशा मिली है। सोशल मीडिया और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्मों ने नागरिक समूहों को संगठित होने और जनमत निर्माण के नए अवसर दिए हैं।

अरब स्प्रिंग, भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान और नागरिक अधिकार आंदोलनों में डिजिटल नागरिक समाज की भूमिका व्यापक रूप से देखी गई।

किन्तु डिजिटल शासन के साथ निगरानी (Surveillance), डेटा नियंत्रण और ऑनलाइन दमन के प्रश्न भी उभरे हैं।

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में यह बहस महत्त्वपूर्ण हो गई है कि लोकतांत्रिक राज्य नागरिक स्वतंत्रता और राष्ट्रीय सुरक्षा के बीच संतुलन किस प्रकार स्थापित करे।

राज्य और नागरिक समाज के संबंध का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष लोकतांत्रिक वैधता (Democratic Legitimacy) भी है।

यदि राज्य नागरिक समाज को पूर्णतः नियंत्रित करने का प्रयास करे, तो लोकतांत्रिक बहुलवाद कमजोर हो सकता है। दूसरी ओर यदि नागरिक समाज संस्थाएँ किसी लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व के बिना अत्यधिक प्रभावशाली हो जाएँ, तो प्रतिनिधिक संस्थाओं की भूमिका प्रभावित हो सकती है।

इस प्रकार लोकतांत्रिक शासन में राज्य और नागरिक समाज के बीच संतुलित संबंध अत्यंत आवश्यक हैं।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से प्रभावी लोकतंत्र वह है जहाँ राज्य और नागरिक समाज के बीच संवाद, आलोचना, सहयोग और प्रतिरोध की प्रक्रियाएँ संतुलित रूप से संचालित हों।

इस प्रकार राज्य और नागरिक समाज का संबंध आधुनिक लोकतंत्र की केंद्रीय संरचना का निर्माण करता है। यह संबंध लोकतांत्रिक उत्तरदायित्व, नागरिक सहभागिता और सार्वजनिक नीति की दिशा को गहराई से प्रभावित करता है।

4.11 दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model): पृष्ठभूमि एवं विकास

भारतीय शहरी शासन (Urban Governance) के संदर्भ में दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model) सहभागी शासन और नागरिक सहभागिता का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना जाता है। इस मॉडल का विकास ऐसे समय में हुआ जब महानगरों में प्रशासनिक जटिलता, जनसंख्या-वृद्धि, आधारभूत सेवाओं की समस्या तथा नागरिकों और प्रशासन के मध्य बढ़ती दूरी को लेकर गंभीर चिंताएँ व्यक्त की जा रही थीं।

दिल्ली जैसे विशाल महानगर में जलापूर्ति, स्वच्छता, यातायात, विद्युत, पर्यावरण और नागरिक सुविधाओं से संबंधित समस्याएँ लगातार बढ़ रही थीं। पारंपरिक नौकरशाही-आधारित प्रशासनिक संरचना इन समस्याओं के समाधान में कई बार अपर्याप्त सिद्ध हो रही थी।

इसी पृष्ठभूमि में दिल्ली सरकार ने नागरिक समूहों और सरकारी विभागों के मध्य संवाद और सहयोग की प्रक्रिया विकसित करने का प्रयास किया, जिसे "भागीदारी" (Bhagidari) नाम दिया गया।

"भागीदारी" शब्द स्वयं इस मॉडल की मूल भावना को व्यक्त करता है। इसका उद्देश्य शासन को केवल प्रशासनिक आदेशों की प्रक्रिया न रहने देकर नागरिकों की सक्रिय सहभागिता पर आधारित व्यवस्था में परिवर्तित करना था।

भागीदारी कार्यक्रम की औपचारिक शुरुआत 2000 ई. में तत्कालीन मुख्यमंत्री शीला दीक्षित के नेतृत्व में की गई। दिल्ली सरकार के अनुसार इस पहल का उद्देश्य नागरिकों और प्रशासन के बीच साझेदारी स्थापित कर शहरी शासन को अधिक उत्तरदायी, पारदर्शी और प्रभावी बनाना था।

इस कार्यक्रम के अंतर्गत रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों (Resident Welfare Associations – RWAs), बाज़ार संघों, नागरिक समूहों तथा सरकारी विभागों को एक साझा मंच पर लाने का प्रयास किया गया।

भागीदारी मॉडल का विकास केवल प्रशासनिक सुधार के रूप में नहीं, बल्कि "सहभागी शहरी शासन" (Participatory Urban Governance) की व्यापक अवधारणा के रूप में किया गया।

दिल्ली सरकार के विभिन्न विभागों को नागरिक समूहों के साथ प्रत्यक्ष संवाद की प्रक्रिया से जोड़ा गया–

- जल बोर्ड
- विद्युत विभाग
- नगर निकाय
- परिवहन विभाग
- राजस्व विभाग

भागीदारी कार्यक्रम का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष कार्यशालाओं (Workshops) और संवाद-सत्रों का आयोजन था। इन कार्यशालाओं में सरकारी अधिकारी और नागरिक प्रतिनिधि स्थानीय समस्याओं तथा प्रशासनिक चुनौतियों पर संयुक्त रूप से चर्चा करते थे।

दिल्ली सरकार के आधिकारिक विवरणों के अनुसार भागीदारी कार्यक्रम का उद्देश्य "People's Participation in Governance" अर्थात शासन में जनसहभागिता को संस्थागत रूप प्रदान करना था।

इस मॉडल की पृष्ठभूमि में वैश्विक शासन-विमर्श का भी प्रभाव देखा जा सकता है। 1990 के दशक के बाद "गुड गवर्नेंस" (Good Governance), "सिविल सोसाइटी पार्टिसिपेशन" (Civil Society Participation) और "कोलैबोरेटिव गवर्नेंस" (Collaborative Governance) जैसी अवधारणाएँ अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्यापक रूप से चर्चित हुईं।

विश्व बैंक, संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (UNDP) और अन्य संस्थानों ने यह तर्क दिया कि शहरी शासन को अधिक प्रभावी बनाने के लिए नागरिक सहभागिता आवश्यक है।

दिल्ली का भागीदारी मॉडल इसी व्यापक वैश्विक और राष्ट्रीय प्रशासनिक सुधार प्रक्रिया का हिस्सा माना जा सकता है।

इस मॉडल में यह मान्यता निहित थी कि स्थानीय नागरिक अपने क्षेत्र की समस्याओं और आवश्यकताओं को बेहतर ढंग से समझते हैं। इसलिए शासन-प्रक्रिया में उनकी भागीदारी से प्रशासन अधिक उत्तरदायी और व्यावहारिक बन सकता है।

भागीदारी कार्यक्रम ने विशेष रूप से मध्यवर्गीय शहरी समुदायों और रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों को प्रशासनिक संवाद की प्रक्रिया में सक्रिय भूमिका प्रदान की।

जलापूर्ति, पार्कों की देखरेख, स्वच्छता, विद्युत वितरण और स्थानीय अवसंरचना से संबंधित प्रश्नों पर नागरिक समूहों और सरकारी विभागों के बीच प्रत्यक्ष संवाद स्थापित किया गया।

समकालीन शहरी शासन में यह मॉडल "सरकार से शासन" (From Government to Governance) की प्रक्रिया का उदाहरण माना गया, जहाँ निर्णय-निर्माण केवल सरकारी अधिकारियों तक सीमित नहीं रहता बल्कि नागरिक समूह भी सक्रिय भूमिका निभाते हैं।

हालाँकि प्रारंभ से ही इस मॉडल को लेकर आलोचनात्मक प्रश्न भी उठाए गए। कुछ अध्ययनों में यह तर्क दिया गया कि भागीदारी कार्यक्रम में मुख्यतः शिक्षित और मध्यवर्गीय रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों की भागीदारी अधिक रही, जबकि झुग्गी-बस्ती क्षेत्रों, अनौपचारिक श्रमिकों और गरीब समुदायों की उपस्थिति अपेक्षाकृत सीमित रही।

कुछ विद्वानों ने यह भी कहा कि सहभागी शासन की प्रक्रिया में सामाजिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यदि केवल संगठित और संसाधन-संपन्न समूह ही प्रशासनिक संवाद में प्रभावी भूमिका निभाएँ, तो सहभागी शासन का लोकतांत्रिक उद्देश्य सीमित हो सकता है।

फिर भी भारतीय शहरी शासन के इतिहास में भागीदारी मॉडल को एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना जाता है क्योंकि इसने नागरिक सहभागिता को प्रशासनिक सुधार और शहरी शासन की केंद्रीय अवधारणा के रूप में स्थापित किया।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से यह मॉडल सहभागी लोकतंत्र (Participatory Democracy) और सहयोगात्मक शासन (Collaborative Governance) की अवधारणाओं का व्यावहारिक उदाहरण प्रस्तुत करता है।

इस प्रकार दिल्ली का भागीदारी मॉडल भारतीय लोकतांत्रिक शासन में नागरिकों और प्रशासन के मध्य सहयोगात्मक संबंध विकसित करने का एक उल्लेखनीय प्रयास था, जिसने शहरी शासन में नागरिक सहभागिता की संभावनाओं और सीमाओं दोनों को उजागर किया।

4.12 भागीदारी मॉडल की संरचना एवं कार्यप्रणाली

दिल्ली का भागीदारी मॉडल (Bhagidari Model) भारतीय शहरी शासन में सहभागी प्रशासन (Participatory Administration) का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग था, जिसकी मूल भावना सरकार और नागरिकों के मध्य सहयोगात्मक संबंध स्थापित करना थी। इस मॉडल की संरचना इस विचार पर आधारित थी कि शहरी शासन की समस्याओं का समाधान केवल केंद्रीकृत नौकरशाही व्यवस्था के माध्यम से संभव नहीं है; नागरिकों, स्थानीय समुदायों और प्रशासनिक संस्थाओं के मध्य सतत संवाद और साझेदारी आवश्यक है। दिल्ली सरकार ने इस कार्यक्रम को एक संस्थागत मंच के रूप में विकसित करने का प्रयास किया, जिसके अंतर्गत विभिन्न सरकारी विभागों और नागरिक समूहों को नियमित संवाद की प्रक्रिया से जोड़ा गया। इस मॉडल में विशेष रूप से रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों (Resident Welfare Associations – RWAs), बाज़ार संघों, नागरिक संगठनों तथा स्थानीय समुदायों को सम्मिलित किया गया।

भागीदारी कार्यक्रम की कार्यप्रणाली का केंद्रीय तत्व संवाद-आधारित शासन था। दिल्ली सरकार के विभिन्न विभागों जैसे दिल्ली जल बोर्ड, विद्युत वितरण एजेंसियाँ, परिवहन विभाग, नगर निकाय और राजस्व विभाग को नागरिक समूहों के साथ प्रत्यक्ष संपर्क में लाया गया। इस प्रक्रिया के अंतर्गत कार्यशालाएँ (Workshops), परिचर्चाएँ (Interactive Sessions) और संयुक्त बैठकें आयोजित की जाती थीं। इन बैठकों में नागरिक अपने क्षेत्रों की समस्याओं, सेवा-प्रदायन की कमियों तथा प्रशासनिक कठिनाइयों को सीधे अधिकारियों के समक्ष प्रस्तुत कर सकते थे।

दिल्ली सरकार के आधिकारिक दस्तावेज़ों के अनुसार भागीदारी कार्यक्रम का उद्देश्य प्रशासनिक प्रक्रियाओं में "People's Participation" अर्थात जनसहभागिता को संस्थागत स्वरूप प्रदान करना था ताकि शासन अधिक उत्तरदायी और नागरिक-केंद्रित बन सके। सहभागी कार्यशालाओं में अधिकारियों और नागरिक प्रतिनिधियों को संयुक्त रूप से समस्या-समाधान की प्रक्रिया में सम्मिलित किया जाता था। यह मॉडल पारंपरिक प्रशासनिक संरचना से भिन्न था क्योंकि इसमें नागरिक केवल शिकायतकर्ता नहीं थे, बल्कि नीति और सेवा-प्रदायन की प्रक्रिया में सहयोगी भागीदार के रूप में देखे जाते थे।

इस मॉडल की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रशासनिक प्रशिक्षण और मानसिकता-परिवर्तन पर बल देना था। सरकारी अधिकारियों को यह समझाने का प्रयास किया गया कि नागरिकों को प्रशासनिक बोझ नहीं, बल्कि शासन-सहयोगी के रूप में देखा जाना चाहिए। इसी प्रकार नागरिक समूहों को भी प्रशासनिक प्रक्रियाओं, बजट, शहरी सेवाओं और संस्थागत सीमाओं के बारे में जानकारी दी जाती थी ताकि संवाद अधिक व्यावहारिक और सहयोगात्मक हो सके।

भागीदारी कार्यक्रम का संबंध व्यापक रूप से "गुड गवर्नेंस" (Good Governance) और "कोलैबोरेटिव गवर्नेंस" (Collaborative Governance) की अवधारणाओं से जोड़ा गया। यह मॉडल शासन को केवल आदेशात्मक संरचना से निकालकर सहभागिता, पारदर्शिता और सामुदायिक सहयोग की दिशा में ले जाने का प्रयास था। हालाँकि इसकी प्रभावशीलता विभिन्न क्षेत्रों और विभागों में समान नहीं रही। कई स्थानों पर यह सक्रिय और प्रभावी दिखाई दिया, जबकि कुछ क्षेत्रों में यह औपचारिक संवाद तक सीमित रह गया।

4.13 भागीदारी मॉडल : उपलब्धियाँ, सीमाएँ एवं आलोचनाएँ

दिल्ली का भागीदारी मॉडल भारतीय शहरी शासन में सहभागी लोकतंत्र और नागरिक सहभागिता की दिशा में महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना गया। इसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि इसने नागरिकों और प्रशासन के मध्य संवाद की संस्कृति को संस्थागत रूप देने का प्रयास किया। पारंपरिक नौकरशाही व्यवस्था में सामान्य नागरिकों के लिए प्रशासन तक प्रत्यक्ष पहुँच कठिन होती थी, किन्तु भागीदारी मॉडल ने संवाद और सहभागिता के लिए औपचारिक मंच उपलब्ध कराया। इससे शासन की उत्तरदायित्व-क्षमता और सार्वजनिक संपर्क में कुछ स्तर तक सुधार देखा गया।

इस मॉडल की दूसरी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि शहरी प्रशासन में स्थानीय समस्याओं की पहचान और समाधान की प्रक्रिया को अधिक व्यावहारिक बनाना था। जलापूर्ति, स्वच्छता, पार्कों की देखरेख, विद्युत सेवाओं तथा स्थानीय अवसंरचना से जुड़े प्रश्नों पर नागरिक समूहों और प्रशासन के बीच प्रत्यक्ष समन्वय स्थापित हुआ। इससे प्रशासनिक प्रतिक्रिया-क्षमता (Responsiveness) में कुछ वृद्धि हुई।

भागीदारी मॉडल ने सहभागी शासन की अवधारणा को सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा भी बनाया। इसने यह विचार मजबूत किया कि लोकतंत्र केवल चुनावी प्रक्रिया नहीं है, बल्कि नागरिकों की निरंतर सहभागिता और सार्वजनिक संवाद की प्रक्रिया भी है। दिल्ली सरकार को इस पहल के लिए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी कुछ प्रशंसा प्राप्त हुई और इसे शहरी प्रशासन के नवाचारी प्रयोग के रूप में प्रस्तुत किया गया।

किन्तु इस मॉडल की सीमाएँ और आलोचनाएँ भी व्यापक रूप से सामने आईं। सबसे प्रमुख आलोचना यह थी कि भागीदारी कार्यक्रम में मुख्यतः मध्यवर्गीय और शिक्षित रेज़िडेंट वेलफेयर एसोसिएशनों की भागीदारी अधिक प्रभावशाली रही। झुग्गी-बस्ती क्षेत्रों, अनौपचारिक श्रमिक समुदायों और शहरी गरीबों की उपस्थिति अपेक्षाकृत

सीमित रही। इस कारण कुछ विद्वानों ने इसे "मिडिल क्लास अर्बन गवर्नेंस" (Middle Class Urban Governance) की प्रवृत्ति से जोड़ा।

आलोचकों का यह भी मत था कि सभी नागरिक समूह समान संसाधनों, समय और संगठनात्मक क्षमता के साथ शासन-प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकते। इसलिए सहभागी मंचों पर वही समूह अधिक प्रभावशाली हो जाते हैं जिनके पास सामाजिक पूँजी, शिक्षा और प्रशासनिक पहुँच अधिक होती है। इससे लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व का प्रश्न उत्पन्न होता है।

कुछ अध्ययनों में यह तर्क भी दिया गया कि भागीदारी मॉडल कई बार परामर्शात्मक (Consultative) प्रक्रिया तक सीमित रह गया और निर्णय-निर्माण की वास्तविक शक्ति प्रशासनिक संरचना के पास ही बनी रही। नागरिकों की भागीदारी कई मामलों में सुझाव देने तक सीमित थी, जबकि अंतिम निर्णय सरकारी विभाग ही लेते थे।

इसके अतिरिक्त प्रशासनिक समन्वय की समस्या भी सामने आई। दिल्ली जैसे महानगर में विभिन्न एजेंसियों और विभागों के बीच अधिकारों का विभाजन जटिल है। इस कारण कई बार नागरिकों द्वारा उठाए गए प्रश्नों का समाधान त्वरित रूप से नहीं हो पाता था।

फिर भी राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से भागीदारी मॉडल का महत्त्व कम नहीं होता। इसने भारतीय शहरी शासन में सहभागी लोकतंत्र, नागरिक उत्तरदायित्व और सहयोगात्मक प्रशासन की संभावनाओं को उजागर किया। साथ ही इसने यह भी स्पष्ट किया कि सहभागी शासन तभी वास्तविक रूप से लोकतांत्रिक हो सकता है जब उसमें समाज के सभी वर्गों की समान और समावेशी भागीदारी सुनिश्चित की जाए।

4.14 डिजिटल शासन, नागरिक सहभागिता और समकालीन परिवर्तन

इक्कीसवीं शताब्दी में डिजिटल तकनीक ने शासन और नागरिकता की प्रकृति को गहराई से प्रभावित किया है। इंटरनेट, डिजिटल संचार, सोशल मीडिया और ऑनलाइन प्रशासनिक सेवाओं के विस्तार ने राज्य और नागरिकों के संबंधों को नई दिशा प्रदान की है। समकालीन शासन-विमर्श में "डिजिटल गवर्नेंस" (Digital Governance) और "ई-गवर्नेंस" (E-Governance) को प्रशासनिक दक्षता, पारदर्शिता और नागरिक सहभागिता के महत्त्वपूर्ण उपकरणों के रूप में देखा जाता है।

ई-गवर्नेंस का सामान्य अर्थ शासन और प्रशासनिक सेवाओं में सूचना एवं संचार प्रौद्योगिकी (Information and Communication Technology – ICT) के उपयोग से है। इसका उद्देश्य प्रशासनिक प्रक्रियाओं को अधिक पारदर्शी, त्वरित और नागरिक-केंद्रित बनाना है। ऑनलाइन प्रमाण-पत्र, डिजिटल भुगतान, शिकायत-निवारण पोर्टल, ई-ऑफिस प्रणाली और सार्वजनिक सूचना मंच इसी प्रक्रिया के उदाहरण हैं।

भारत में डिजिटल इंडिया (Digital India) जैसी पहलें प्रशासनिक सेवाओं को व्यापक रूप से डिजिटलीकृत करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण कदम रही हैं। नागरिक अब अनेक सरकारी सेवाओं तक ऑनलाइन पहुँच प्राप्त कर सकते हैं। इससे प्रशासनिक प्रक्रियाओं में समय और लागत दोनों में कमी आई है।

डिजिटल शासन ने नागरिक सहभागिता के नए रूप भी विकसित किए हैं। सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्मों, ऑनलाइन जन-सुनवाई और डिजिटल परामर्श मंचों के माध्यम से नागरिक प्रत्यक्ष रूप से शासन से संवाद कर सकते हैं। ट्विटर, फेसबुक और अन्य डिजिटल मंचों पर सरकारी विभागों की सक्रिय उपस्थिति ने प्रशासनिक उत्तरदायित्व की प्रकृति को परिवर्तित किया है।

समकालीन लोकतंत्र में डिजिटल नागरिकता (Digital Citizenship) की अवधारणा भी महत्त्वपूर्ण हो गई है। नागरिक केवल भौतिक सार्वजनिक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि डिजिटल मंचों पर भी राजनीतिक विमर्श और सार्वजनिक बहस में भाग लेते हैं।

हालाँकि डिजिटल शासन के साथ अनेक चुनौतियाँ भी जुड़ी हुई हैं। सबसे पहली चुनौती डिजिटल विभाजन (Digital Divide) की है। समाज के सभी वर्गों को इंटरनेट, तकनीकी संसाधनों और डिजिटल साक्षरता तक समान पहुँच प्राप्त नहीं है। ग्रामीण क्षेत्रों, गरीब समुदायों और बुज़ुर्ग नागरिकों के लिए डिजिटल प्रशासन तक पहुँच कई बार कठिन हो सकती है।

दूसरी महत्त्वपूर्ण चुनौती डेटा-सुरक्षा और निजता (Privacy) की है। डिजिटल शासन के विस्तार के साथ राज्य और निजी कंपनियों द्वारा नागरिकों का विशाल डेटा एकत्रित किया जा रहा है। इससे निगरानी (Surveillance), डेटा-नियंत्रण और व्यक्तिगत स्वतंत्रता से जुड़े प्रश्न उत्पन्न हुए हैं।

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में यह बहस अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गई है कि पारदर्शिता और डिजिटल निगरानी के बीच संतुलन किस प्रकार स्थापित किया जाए। यदि राज्य अत्यधिक डेटा-संग्रह और निगरानी की प्रवृत्ति अपनाए, तो नागरिक स्वतंत्रता प्रभावित हो सकती है।

फेक न्यूज़ (Fake News), ऑनलाइन घृणा और एल्गोरिथ्मिक नियंत्रण जैसी समस्याएँ भी डिजिटल लोकतंत्र के सामने गंभीर चुनौतियाँ प्रस्तुत करती हैं। सोशल मीडिया प्लेटफ़ॉर्म कई बार जनमत-निर्माण को प्रभावित करने वाले शक्तिशाली माध्यम बन जाते हैं।

फिर भी डिजिटल शासन ने लोकतांत्रिक सहभागिता और प्रशासनिक उत्तरदायित्व के नए अवसर प्रदान किए हैं। यह शासन को अधिक खुला, त्वरित और संवादपरक बनाने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

4.15 उत्तरदायी शासन और सक्रिय नागरिकता

आधुनिक लोकतंत्र की सफलता केवल संवैधानिक संस्थाओं अथवा चुनावी प्रक्रियाओं पर निर्भर नहीं करती; यह नागरिकों की सक्रियता, सामाजिक चेतना और शासन की उत्तरदायित्व-क्षमता पर भी निर्भर करती है। इसी कारण समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में "उत्तरदायी शासन" (Accountable Governance) और "सक्रिय नागरिकता" (Active Citizenship) की अवधारणाओं को अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

उत्तरदायी शासन का अर्थ ऐसी शासन-व्यवस्था से है जो नागरिकों के प्रति जवाबदेह, पारदर्शी और संवेदनशील हो। लोकतांत्रिक शासन में सत्ता का प्रयोग निरंकुश रूप से नहीं किया जा सकता; उसे विधि, संविधान और सार्वजनिक नैतिकता के अधीन रहना पड़ता है। सूचना का अधिकार, सामाजिक अंकेक्षण, नागरिक अधिकार पत्र और लोकपाल जैसी व्यवस्थाएँ इसी उत्तरदायित्व को संस्थागत रूप देने के प्रयास हैं।

किन्तु उत्तरदायी शासन केवल संस्थागत ढाँचों से निर्मित नहीं होता। इसके लिए सक्रिय नागरिकता भी आवश्यक है। यदि नागरिक सार्वजनिक जीवन से उदासीन हो जाएँ, तो लोकतांत्रिक संस्थाएँ औपचारिक होकर रह सकती हैं।

सक्रिय नागरिकता का अर्थ केवल मतदान करना नहीं है। यह सार्वजनिक मुद्दों पर जागरूकता, सामाजिक सहभागिता, लोकतांत्रिक संवाद और शासन की निगरानी से जुड़ी व्यापक अवधारणा है।

नागरिक समाज, सामाजिक आंदोलन, मीडिया और सामुदायिक संगठन सक्रिय नागरिकता को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

समकालीन लोकतंत्र में यह स्वीकार किया जाता है कि नागरिक केवल राज्य के अधीन "प्रजा" नहीं हैं; वे लोकतांत्रिक समुदाय के सक्रिय सदस्य हैं जिनके पास अधिकारों के साथ-साथ सार्वजनिक उत्तरदायित्व भी हैं।

राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से उत्तरदायी शासन और सक्रिय नागरिकता परस्पर पूरक अवधारणाएँ हैं। प्रभावी लोकतंत्र के लिए न केवल उत्तरदायी राज्य आवश्यक है, बल्कि जागरूक, सहभागी और सक्रिय नागरिक समाज भी उतना ही आवश्यक है।

4.16 तुलनात्मक सारणी

आधार	नागरिक समाज	सहभागी शासन	भागीदारी मॉडल	डिजिटल शासन
प्रकृति	सामाजिक क्षेत्र	शासन की प्रक्रिया	शहरी सहभागी पहल	तकनीक-आधारित शासन
प्रमुख आधार	स्वैच्छिक संगठन	नागरिक सहभागिता	सरकार-नागरिक साझेदारी	सूचना प्रौद्योगिकी
उद्देश्य	लोकतांत्रिक संवाद	उत्तरदायी शासन	शहरी समस्याओं का समाधान	प्रशासनिक दक्षता
नागरिक भूमिका	सामाजिक सक्रियता	निर्णय-प्रक्रिया में भागीदारी	स्थानीय सहयोग	डिजिटल सहभागिता
प्रमुख चुनौती	प्रतिनिधित्व	समावेशन	मध्यवर्गीय प्रभुत्व	डिजिटल विभाजन

4.17 अभ्यास प्रश्न

1. नागरिक समाज की अवधारणा का अर्थ एवं प्रकृति स्पष्ट कीजिए।
2. हेगेल और ग्राम्शी के नागरिक समाज संबंधी विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. लोकतंत्र, नागरिक समाज और शासन के संबंध का विवेचन कीजिए।
4. सहभागी शासन की अवधारणा एवं महत्त्व पर चर्चा कीजिए।
5. विकेंद्रीकरण और स्थानीय शासन का लोकतंत्र में क्या महत्त्व है?
6. भारत में नागरिक समाज की भूमिका का आलोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
7. सामाजिक आंदोलनों और मीडिया की लोकतांत्रिक भूमिका पर चर्चा कीजिए।
8. राज्य और नागरिक समाज के संबंधों की प्रकृति का विश्लेषण कीजिए।
9. दिल्ली के भागीदारी मॉडल की पृष्ठभूमि और कार्यप्रणाली का अध्ययन कीजिए।
10. भागीदारी मॉडल की उपलब्धियों और सीमाओं का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

11. डिजिटल शासन और नागरिक सहभागिता के समकालीन प्रश्नों पर चर्चा कीजिए।

12. उत्तरदायी शासन और सक्रिय नागरिकता के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

4.18 संदर्भ-सूची

- अल्मंड, गैब्रियल एवं वर्बा, सिडनी. (1963). द *सिविक कल्चर : पॉलिटिकल एटिट्यूड्स एंड डेमोक्रेसी इन फाइव नेशन्स* (*The Civic Culture: Political Attitudes and Democracy in Five Nations*). प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।
- फ्रेडरिकसन, एच. जॉर्ज इत्यादि. (2015). द *थ्योरीज़ ऑफ गवर्नेंस इन द पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन थ्योरी प्राइमर* (*Theories of Governance in The Public Administration Theory Primer*). बोल्डर: वेस्टव्यू प्रेस।
- हेगेल, जी. डब्ल्यू. एफ. *फिलॉसफी ऑफ राइट* (*Philosophy of Right*).
- लेफ्टविच, एड्रियन. (1993). "गवर्नेंस, डेमोक्रेसी एंड डेवलपमेंट इन द थर्ड वर्ल्ड" (*Governance, Democracy and Development in the Third World*). *थर्ड वर्ल्ड क्वार्टरली* (*Third World Quarterly*), 14(3), 605–624।
- लेफ्टविच, एड्रियन. (1994). "गवर्नेंस, द स्टेट एंड द पॉलिटिक्स ऑफ डेवलपमेंट" (*Governance, the State and the Politics of Development*). *डेवलपमेंट एंड चेंज* (*Development and Change*), 25(2), 363–386।
- रागी, एस. के. (2019). *सिटिज़नशिप एंड गवर्नेंस* (*Citizenship and Governance*). नई दिल्ली: नेशनल बुक ट्रस्ट।
- संगीता, एस. (2007). "डिसेंट्रलाइजेशन फॉर गुड गवर्नेंस एंड सर्विस डिलीवरी इन इंडिया : थ्योरी एंड प्रैक्टिस" (*Decentralisation for Good Governance and Service Delivery in India: Theory and Practice*). द *इंडियन जर्नल ऑफ पॉलिटिकल साइंस* (*The Indian Journal of Political Science*), 68(3), 447–464।
- दिल्ली सरकार. "भागीदारी कार्यक्रम" (*Bhagidari Programme*). दिल्ली सरकार आधिकारिक पोर्टल।

NOTES

NOTES

20CUS01656